सितम्बर, 2023

I.S.S.N. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय
निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन

विधायी विभाग

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

संपादक-मंडल

डा. रीटा वशिष्ट,
सचिव, विधायी विभाग

श्री उदय कुमारा,
अपर सचिव, विधायी विभाग,
(विभागाध्यक्ष) वि.सा.प्र.

डा. अनुराग दीप, एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. आर्येन्दु द्विवेदी,
प्राचार्य, मां वैष्णों देवी ला कालेज
फैजाबाद रोड, चिनहट, लखनऊ, उ.प्र.

श्री कुलदीप चौहान,
चेयरमैन, एस.आर.सी. ला कालेज
129, सेक्टर-1, मंगल पाण्डेय नगर,
मेरठ, उ.प्र.

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
सेवानिवृत्त प्रधान संपादक,
वि.सा.प्र.

श्री दयाल चन्द ग्रोवर,
सेवानिवृत्त उप-संपादक,
वि.सा.प्र.

श्री कमला कान्त,
प्रधान संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

श्री पुण्डरीक शर्मा,
संपादक

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह, जसवन्त सिंह, जाह्नवी शेखर शर्मा और अमर्त्य हेम विप्र पाण्डेय

ISSN 2457-0494

कीमत : **डाक-व्यय सहित**

एक प्रति : ₹ 195/-

वार्षिक : ₹ 2,100/-

© 2023 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा.................................. द्वारा मुद्रित ।

आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

सितम्बर, 2023 अंक - 9

प्रधान संपादक
कमला कान्त

संपादक
अविनाश शुक्ला

सत्यमेव जयते

विधि साहित्य
प्रकाशन

[2023] 3 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

Online selling of law Patrikas/Books is available on
Website https://bharatkosh.gov.in/product/product

विक्रय कार्यालय : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001. दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका प्रतिमाह आपके अवलोकनार्थ उच्चतम न्यायालय द्वारा पारित प्रतिवेद्य निर्णय, जो न्यायाधीशों, अधिवक्ताओं, विधि छात्रों और अकादमीशियनों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं, का प्रकाशन करता है । आप लोगों से प्राप्त सुझावों के आधार पर हमको अपनी पत्रिका की गुणवत्ता सुधारने और अपने कार्य को और अधिक निखारने की शक्ति प्राप्त होती है । कृपया अपने अमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराते रहें और हमारा मार्गदर्शन करते रहें ।

इस अंक के माध्यम से हमने आपके अवलोकनार्थ माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा तारीख 28 अप्रैल, 2023 को **टी. डी. विवेक कुमार और एक अन्य** बनाम **रणवीर चौधरी** [2023] 3 उम. नि. प. 85 वाले मामले में पारित निर्णय का हिंदी पाठ प्रस्तुत किया है । इस मामले में अपीलार्थी संख्या 2, जो मूल वाद में मूल प्रतिवादी था, के मुख्तार अपीलार्थी संख्या 1, जो इस अपील में प्रत्यर्थी है, के मध्य वाद में अंतर्वलित भूखंड के विक्रय के लिए एक विक्रय करार निष्पादित और रजिस्ट्रीकृत किया गया था, जिसके अंतर्गत अंतिम विक्रय विलेख के निष्पादन और रजिस्ट्रीकरण के लिए अंतिम तारीख 18 सितंबर, 2004 निर्धारित की गई थी । इस विक्रय करार के अंतर्गत विक्रय विलेख निष्पादित करने में विफल रहने पर असफल पक्ष को अग्रिम के रूप में प्राप्त रकम की दोगुना रकम का संदाय करने की शर्त समाविष्ट थी । प्रत्यर्थी ने अग्रिम के रूप में दो लाख रुपए की रकम का संदाय किया था । विक्रय करार के अनुपालन में विक्रय विलेख निष्पादित न किए जाने के कारण विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 20 के अधीन विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने विक्रय करार में दर्शित शर्त के अनुसार क्रेता को अग्रिम के रूप में संदत्त रकम की दोगुना रकम का संदाय किए जाने के लिए आदेशित करते हुए डिक्री पारित कर दी और विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार कर दिया । प्रथम अपील में अपील न्यायालय ने

विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री पारित करने से इनकार करते हुए अग्रिम के रूप में संदत्त रकम से दोगुना रकम के संदाय के लिए पारित डिक्री की पुष्टि की । द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय ने विधि का सारभूत प्रश्न विरचित न करते हुए निर्णय को अपास्त कर दिया और क्रेता के पक्ष में विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री पारित कर दी । उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि ऐसे मामलों, जिनमें विक्रय करार में अनुबंधित शर्त के अंतर्गत विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने पर अग्रिम रकम की दोगुना रकम के संदाय की शर्त समाविष्ट हो गई, तो ऐसी स्थिति में विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री पारित किया जाना उचित नहीं होगा और दोगुना रकम के संदाय की डिक्री पारित किया जाना ही उचित होगा ।

इस अंक में भरणपोषण आदेश प्रवर्तन अधिनियम, 1921 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपकी बहुमूल्य प्रतिक्रियाएं ईप्सित हैं ।

अविनाश शुक्ला
संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

सितम्बर, 2023

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
अनबाझगन **बनाम** राज्य मार्फत पुलिस निरीक्षक	96
टी. डी. विवेक कुमार और एक अन्य **बनाम** रणबीर चौधरी	85
मो. सिद्दीक (मृतक) द्वारा विधिक प्रतिनिधि **बनाम** महंत सुरेश दास और अन्य	253

संसद् के अधिनियम

भरणपोषण आदेश प्रवर्तन अधिनियम, 1921 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ	1 – 10

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 299, 300 और 304 भाग 2 – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – जहां किसी मामले में अभियुक्त द्वारा विपदग्रस्त पर केवल एक क्षति कारित की गई हो और वह क्षति प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त पाई जाए, वहां ऐसा कृत्य करने के लिए अभियुक्त के दोषपूर्ण आशय या दोषपूर्ण ज्ञान के प्रश्न का अवधारण करने के लिए इस तथ्य पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या कृत्य अचानक हुई लड़ाई या झगड़े में पूर्व-चिंतन के बिना गया था या परिस्थितियों के आधार पर यह न्यायोचित हो कि क्षति आकस्मिक या अनाशय थी या केवल एक साधारण क्षति पहुंचाने का आशय था, तो दोषपूर्ण ज्ञान होने का निष्कर्ष निकलेगा और अपराध धारा 304 के भाग 2 के अधीन आएगा ।

अनबाझगन बनाम **राज्य मार्फत पुलिस निरीक्षक** 96

– धारा 304 भाग 1 और भाग 2 – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – अभियुक्त और मृतक के बीच खेत में रास्ते के प्रयोग को लेकर मौखिक कहा-सुनी होना और कहा-सुनी के दौरान अभियुक्त द्वारा एक कृषि औजार से मृतक के सिर पर केवल एक प्रहार किया जाना जिसके परिणामस्वरूप विपदग्रस्त बेहोश हो जाना और बाद में उसकी मृत्यु हो जाना – विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को धारा 304 के भाग 1 के अधीन दोषसिद्ध और दस वर्ष के कारावास से दंडादिष्ट किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि किया जाना – उच्चतम न्यायालय में अपील – जहां अभिलेख पर

पृष्ठ संख्या

संपूर्ण साक्ष्य को देखने पर यह निष्कर्ष नहीं निकलता हो कि जब अभियुक्त-अपीलार्थी ने आक्रामक आयुध से मृतक पर प्रहार किया था, उसका आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो बल्कि केवल यह माना जा सकता हो कि अभियुक्त-अपीलार्थी को यह ज्ञान था कि यह संभाव्य है कि उसके कृत्य से विपदग्रस्त की मृत्यु होने की संभावना है, ऐसी परिस्थितियों में मामला संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत नहीं आने के कारण अभियुक्त-अपीलार्थी की धारा 304 के भाग 1 के अधीन दोषसिद्धि को धारा 304 के भाग 2 के अधीन परिवर्तित करते हुए पांच वर्ष के कठोर कारावास से दंडादिष्ट करना उचित होगा ।

अनबाझगन बनाम **राज्य मार्फत पुलिस निरीक्षक** 96

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 (1963 का 47)

– धारा 20 – विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद – एक भूखंड के विक्रय के लिए विक्रेता (अपीलार्थी-मूल प्रतिवादियों) द्वारा क्रेता (प्रत्यर्थी-मूल वादी) के साथ एक विक्रय करार किया जाना – क्रेता द्वारा अग्रिम धन का संदाय किया जाना – विक्रेता द्वारा विक्रय विलेख निष्पादित न किया जाना – क्रेता द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया जाना – विचारण न्यायालय द्वारा विक्रय करार में अनुबंधित शर्त के अनुसार क्रेता को अग्रिम के रूप में संदाय की गई रकम से दोगुना रकम देने के लिए डिक्री पारित करते हुए विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री से इनकार किया जाना

पृष्ठ संख्या

– प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पुष्टि किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान किया जाना – संधार्यता – जहां विक्रय करार में अनुबंधित शर्त यह हो कि विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने पर क्रेता को अग्रिम रकम से दोगुना रकम का संदाय करना होगा, वहां विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार करके और क्रेता-मूल वादी को अग्रिम रकम से दोगुना रकम का संदाय करने के लिए डिक्री पारित करना ठीक था और उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में विधि के सारवान् प्रश्न को विरचित न करते हुए समवर्ती निर्णयों को अपास्त करना और क्रेता के पक्ष में विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करना उचित नहीं कहा जा सकता ।

टी. डी. विवेक कुमार और एक अन्य बनाम **रणबीर चौधरी** 85

तुलनात्मक सारणी

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

[2023] 3 उम. नि. प.

जुलाई-सितम्बर, 2023

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.	ए. आई. आर. (एस. सी.)	एस. सी. सी.
1	2	3	4	5
1.	जी. विक्रम कुमार **बनाम** स्टेट बैंक आफ हैदराबाद और अन्य (2 मई, 2023)	[2023] 3 1	2023 2359	(2023) – –
2.	प्रदीप **बनाम** हरियाणा राज्य (5 जुलाई, 2023)	24	3245	– –
3.	मो. सिद्दीक (मृतक) द्वारा विधिक प्रतिनिधित **बनाम** महंत सुरेश दास और अन्य (9 नवंबर, 2019)	1	–	(2019) 7 633
4.	प्रीतिन्दर सिंह **उर्फ** लवली **बनाम** पंजाब राज्य (5 जुलाई, 2023)	39	–	(2023) 7 727

1	2	3	4	5
5.	शत्रुघन **बनाम** छत्तीसगढ़ राज्य (20 जुलाई, 2023)	[2023] 3 63	2023 3493	(2023) – –
6.	टी. डी. विवेक कुमार और एक अन्य **बनाम** रणबीर चौधरी (28 अप्रैल, 2023)	85	2161	– –
7.	अनबाझगन **बनाम** राज्य मार्फत पुलिस निरीक्षक (20 जुलाई, 2023)	96	1901	– –

[2023] 3 उम. नि. प. 85

टी. डी. विवेक कुमार और एक अन्य

बनाम

रणबीर चौधरी

[2023 की सिविल अपील सं. 2514-2516]

28 अप्रैल, 2023

न्यायमूर्ति एम. आर. शाह और न्यायमूर्ति सी. टी. रविकुमार

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 (1963 का 47) – धारा 20 – विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद – एक भूखंड के विक्रय के लिए विक्रेता (अपीलार्थी-मूल प्रतिवादियों) द्वारा क्रेता (प्रत्यर्थी-मूल वादी) के साथ एक विक्रय करार किया जाना – क्रेता द्वारा अग्रिम धन का संदाय किया जाना – विक्रेता द्वारा विक्रय विलेख निष्पादित न किया जाना – क्रेता द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया जाना – विचारण न्यायालय द्वारा विक्रय करार में अनुबंधित शर्त के अनुसार क्रेता को अग्रिम के रूप में संदाय की गई रकम से दोगुना रकम देने के लिए डिक्री पारित करते हुए विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री से इनकार किया जाना – प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पुष्टि किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान किया जाना – संधार्यता – जहां विक्रय करार में अनुबंधित शर्त यह हो कि विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने पर क्रेता को अग्रिम रकम से दोगुना रकम का संदाय करना होगा, वहां विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार करके और क्रेता-मूल वादी को अग्रिम रकम से दोगुना रकम का संदाय करने के लिए डिक्री पारित करना ठीक था और

उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में विधि के सारवान् प्रश्न को विरचित न करते हुए समवर्ती निर्णयों को अपास्त करना और क्रेता के पक्ष में विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करना उचित नहीं कहा जा सकता ।

इस अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि अपीलार्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी) के मुख्तार के रूप में अपीलार्थी सं. 1 और इस अपील में प्रत्यर्थी (मूल वादी) के बीच वादांतर्गत भूखंड के विक्रय के लिए 17,61,700/- रुपए के प्रतिफल के लिए एक "विक्रय करार" हुआ था । विक्रय विलेख के निष्पादन और रजिस्ट्रीकरण के लिए अनंतिम रूप से तारीख 18 सितंबर, 2004 तय की गई थी । प्रत्यर्थी द्वारा अग्रिम धन के रूप में कुल दो लाख रुपए की रकम संदत्त की गई थी । उसके पश्चात् प्रत्यर्थी-मूल वादी ने विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन और व्यादेश के पारिणामिक अनुतोष की ईप्सा करते हुए अपर सिविल न्यायाधीश (ज्येष्ठ प्रभाग), फरीदाबाद के न्यायालय में सिविल वाद संस्थित किया । इस अपील में अपीलार्थियों-मूल प्रतिवादियों द्वारा वाद का सभी आधारों पर इस आधार सहित विरोध किया गया कि यहां तक कि विक्रय करार के अनुसार और विक्रय करार का निष्पादन करने में प्रतिवादियों के असफल रहने पर भी वादी अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का हकदार होगा और इसलिए वादी विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री का हकदार नहीं है । विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार कर दिया, तथापि, वाद को संविदा अर्थात् विक्रय करार के अनुसार चार लाख रुपए अर्थात् वादी द्वारा संदत्त अग्रिम धन के दोगुने की वसूली के लिए डिक्रीत किया । प्रथम अपील न्यायालय ने अपील खारिज कर दी । विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान करने से इनकार करते हुए विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री, जिसकी पुष्टि प्रथम अपील न्यायालय द्वारा की गई थी, से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल वादी-प्रत्यर्थी द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की गई । अपीलार्थी (अपीलार्थियों) द्वारा भी प्रत्याक्षेप फाइल किए गए । उच्च न्यायालय द्वारा विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पुष्टि किए

गए समवर्ती निर्णयों को उलटते हुए द्वितीय अपील मंजूर की गई और यह मत व्यक्त करते हुए विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान किया कि चूंकि वादी संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था इसलिए वह विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री का हकदार है और मूल प्रतिवादियों द्वारा फाइल किए गए प्रत्याक्षेप को खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील को मंजूर करते हुए और प्रत्याक्षेप को खारिज करते हुए पारित किए गए निर्णय और आदेश से व्यथित होकर इस अपील में अपीलार्थियों ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत याचिका (सिविल) फाइल की । अपीलार्थियों को उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल करने के लिए वापस भेजा गया क्योंकि अपीलार्थियों के अनुसार उच्च न्यायालय ने विक्रय करार के उन सुसंगत खंडों पर विचार नहीं किया था जिन पर विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विचार किया गया था । उसके पश्चात् अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन को यह मत व्यक्त करते हुए खारिज कर दिया गया कि अभिलेख पर कोई स्पष्ट गलती नहीं है और पुनरीक्षण के लिए कोई आधार नहीं बनता है । उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर प्रतिवादियों-अपीलार्थियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – विक्रय करार के खंड 2 के अनुसार यदि द्वितीय पक्षकार अनुबंधित समय के भीतर अतिशेष रकम का संदाय करने में असफल रहता है, तो अग्रिम समपहृत हो जाएगा और यदि विक्रेता अनुबंधित समय के भीतर क्रेता/खरीदार के पक्ष में या उसके नामनिर्देशितियों के नाम में विक्रय करार और अन्य आवश्यक दस्तावेज का निष्पादन करने में असफल रहता या इनकार करता है, तो विक्रेता अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुना का संदाय करने के लिए उत्तरदायी होगा । अत: विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने पर क्रेता/खरीदार अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का हकदार होगा । यह विवादग्रस्त नहीं

किया जा सकता है कि वादी विक्रय करार का पक्षकार होने के कारण विक्रय करार में अनुबंधित निबंधनों और शर्तों द्वारा आबद्ध है । अतः विक्रय करार के खंड 2 का सही निर्वचन करके विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय ने विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से ठीक ही इनकार किया था और चार लाख रुपए, जो अग्रिम के रूप में दी गई रकम से दोगुनी रकम है, की वसूली के लिए डिक्री पारित करके ठीक किया था जो विक्रय करार के खंड 2 के अनुरूप था । उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय ने विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार करते हुए और संदाय किए गए अग्रिम की रकम से दोगुना रकम के रूप में चार लाख रुपए की वसूली के लिए डिक्री पारित करते हुए समवर्ती निर्णय (निर्णयों) को अपास्त करके तात्विक रूप से गलती की है । इन परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश असंधार्य है । (पैरा 6.3 और 7)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2004]	(2004) 6 एस. सी. सी . 649 : **पी. डिसूजा** बनाम **शेंड्रिलो नायडू** ;	3.3, 6.4
[1973]	(1973) 2 एस. सी. सी. 515 : **एम. एल. देवेन्द्र सिंह** बनाम **सय्यद खाजा** ।	6.4

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2023 की सिविल अपील सं. 2514-2516.

2016 की नियमित अपील सं. 149सी में तारीख 26 अक्तूबर, 2018 को और 2012 की नियमित द्वितीय अपील सं. 596 में तारीख 27 जुलाई, 2016 को और 2012 के प्रति-आक्षेप (एक्सओबीजे) मामला सं. 10सी में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ द्वारा पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री गुरु कृष्ण कुमार, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अमित आनंद तिवारी और (सुश्री) सौश्रेया हवेलिया

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री दया कृष्ण शर्मा, रोहित वत्स, शुभम राणा, विक्रांत वाई. एस. नरुला और (श्रीमती) सुनीता शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एम. आर. शाह ने दिया ।

न्या. शाह – 2012 की नियमित द्वितीय अपील सं. 596 में 2016 के पुनरीक्षण आवेदन सं. 149-सी और 2010 के प्रति-आक्षेप मामला सं. 10-सी में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ द्वारा पारित किए गए आक्षेपित निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल प्रतिवादियों ने वर्तमान अपीलें फाइल की हैं ।

2. वे तथ्य जिनसे ये अपीलें उद्भूत हुई हैं, इस प्रकार हैं –

2.1 अपीलार्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी) के मुख्तार के रूप में अपीलार्थी सं. 1 और इस अपील में प्रत्यर्थी (मूल वादी) के बीच प्रश्नगत वादांतर्गत भूखंड के विक्रय के लिए 17,61,700/- रुपए के प्रतिफल के लिए एक "विक्रय करार" हुआ था । विक्रय विलेख के निष्पादन और रजिस्ट्रीकरण के लिए अनंतिम रूप से तारीख 18 सितंबर, 2004 तय की गई थी । प्रत्यर्थी द्वारा अग्रिम धन के रूप में कुल दो लाख रुपए की रकम संदत्त की गई थी । उसके पश्चात् प्रत्यर्थी-मूल वादी ने विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन और व्यादेश के पारिणामिक अनुतोष की ईप्सा करते हुए अपर सिविल न्यायाधीश (ज्येष्ठ प्रभाग), फरीदाबाद के न्यायालय में सिविल वाद संस्थित किया । इस अपील में अपीलार्थियों-मूल प्रतिवादियों द्वारा वाद का सभी आधारों पर इस आधार सहित विरोध किया गया कि यहां तक कि विक्रय करार के अनुसार और विक्रय करार का निष्पादन करने में प्रतिवादियों के असफल रहने पर वादी अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का हकदार होगा और इसलिए वादी विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री का हकदार नहीं है ।

2.2 विद्वान् विचारण न्यायालय ने तारीख 16 जनवरी, 2010 के

निर्णय और डिक्री द्वारा विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार कर दिया, तथापि, वाद को संविदा अर्थात् विक्रय करार के अनुसार चार लाख रुपए अर्थात् वादी द्वारा संदत्त अग्रिम धन के दोगुने की वसूली के लिए डिक्रीत किया ।

2.3 प्रथम अपील न्यायालय ने अपील खारिज कर दी । विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान करने से इनकार करते हुए विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री, जिसकी पुष्टि प्रथम अपील न्यायालय द्वारा की गई थी, से व्यथित और असंतुष्ट होकर इस अपील में प्रत्यर्थी-मूल वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की । अपीलार्थी (अपीलार्थियों) ने भी विद्वान् विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित किए गए इन निष्कर्षों पर कि वादी संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था, द्वितीय अपील में प्रत्याक्षेप फाइल किए । उच्च न्यायालय ने तारीख 27 जुलाई, 2016 के आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पुष्टि किए गए समवर्ती निर्णयों को उलटते हुए द्वितीय अपील मंजूर की और यह मत व्यक्त करते हुए विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्रदान किया कि चूंकि वादी संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था इसलिए वह विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री का हकदार है । उच्च न्यायालय ने अपीलार्थियों-मूल प्रतिवादियों द्वारा फाइल किए गए प्रत्याक्षेप को खारिज कर दिया ।

2.4 उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील को मंजूर करते हुए और प्रत्याक्षेप को खारिज करते हुए तारीख 27 जुलाई, 2016 को पारित किए गए निर्णय और आदेश से व्यथित होकर इस अपील में अपीलार्थियों ने इस न्यायालय के समक्ष 2016 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 32215-32216 फाइल की । अपीलार्थियों को उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल करने के लिए वापस भेजा गया क्योंकि अपीलार्थियों के अनुसार उच्च न्यायालय ने विक्रय करार के उन सुसंगत

खंडों पर विचार नहीं किया था जिन पर विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा विचार किया गया था ।

2.5 उसके पश्चात् अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2016 का वर्तमान पुनरीक्षण आवेदन सं. 149 फाइल किया । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा पुनरीक्षण आवेदन को यह मत व्यक्त करते हुए खारिज कर दिया कि अभिलेख पर कोई स्पष्ट गलती नहीं है और पुनरीक्षण के लिए कोई आधार नहीं बनता है । इसलिए वर्तमान अपीलें फाइल की गई हैं ।

3. अपीलार्थियों-मूल प्रतिवादियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री गुरु कृष्ण कुमार ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में उच्च न्यायालय ने पुनरीक्षण आवेदन को खारिज करके एक बहुत ही गंभीर गलती की है जो इस न्यायालय द्वारा आरक्षित की गई स्वतंत्रता के अनुसरण में फाइल किया गया था । यह दलील दी कि उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील मंजूर करते समय विक्रय करार के सुसंगत खंडों पर विचार नहीं किया गया था और कतिपय तथ्यात्मक गलतियां भी हैं और यहां तक कि प्रत्याक्षेप को विचार किए बिना नामंजूर किया गया था ; उच्च न्यायालय को पुनरीक्षण आवेदन को मंजूर करना चाहिए था और संपूर्ण अपील पर गुणागुण के आधार पर विचार करना चाहिए था । यह भी दलील दी कि अन्यथा भी उच्च न्यायालय ने उस विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करके तात्विक रूप से गलती की है जिससे विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा इनकार कर दिया गया था ।

3.1 यह दलील दी कि यहां तक कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील मंजूर करते हुए विधि का ऐसा कोई सारभूत प्रश्न विनिर्दिष्ट रूप से विरचित नहीं किया था जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अनुसार विरचित किया जाना अपेक्षित था ।

3.2 आगे यह भी दलील दी कि उच्च न्यायालय ने इस तथ्य का उचित रूप से मूल्यांकन और उस पर विचार नहीं किया था कि यहां तक

कि विक्रय करार के अनुसार यदि प्रथम पक्षकार – अपीलार्थी अनुबंधित समय के भीतर विक्रय करार का निष्पादन करने में असफल रहता है या इनकार करता है, तो विक्रेता अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुना का संदाय करने के लिए उत्तरदायी होगा । यह दलील दी कि इसलिए यह मान लिया जाए कि प्रतिवादी (प्रतिवादियों) की ओर से अनुबंधित समय के भीतर वादी के पक्ष में विक्रय करार का निष्पादन करने में असफलता थी, तो वादी केवल अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का हकदार होगा । यह दलील दी कि इसलिए दोनों निचले न्यायालयों ने विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री पारित करने से ठीक ही इनकार किया था ।

3.3 उपरोक्त दलीलें देने और **पी. डिसूज़ा** बनाम **शेंड्रिलो नायडू**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के पैरा 31 का अवलंब लेने के उपरांत वर्तमान अपीलों को मंजूर करने का निवेदन किया गया ।

4. प्रत्यर्थी-मूल वादी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री दया कृष्ण शर्मा ने वर्तमान अपीलों का विरोध करते हुए जोरदार रूप से यह दलील दी कि वर्तमान मामले में संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए वादी की ओर से तैयार और रजामंद होने के बारे में सभी निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित किए गए समवर्ती निष्कर्ष हैं और प्रतिवादी (प्रतिवादियों) ने ही संविदा के अपने भाग का पालन नहीं किया था और विक्रय विलेख का निष्पादन नहीं किया था यद्यपि वादी विक्रय की रकम का संदाय करने के लिए तैयार और रजामंद था । यह दलील दी कि इसलिए सभी निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित किए गए समवर्ती निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालय ने विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करके कोई गलती नहीं की है ।

4.1 यह दलील दी कि अत: विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए अनुतोष प्रदान करते हुए उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश में इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप न किया जाए । **पी. डिसूज़ा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी अवलंब लिया गया ।

[1] (2004) 6 एस. सी. सी. 649.

5. हमने संबधित पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्‌वान् काउंसेलों को विस्तारपूर्वक सुना ।

6. आरंभ में, यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए वादी के तैयार और रजामंद होने के बारे में सभी निचले न्यायालयों द्‌वारा अभिलिखित किए गए तथ्य संबंधी समवर्ती निष्कर्ष हैं जिनमें इस न्यायालय द्‌वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए हस्तक्षेप किया जाना अपेक्षित नहीं है । तथापि, साथ ही साथ जिस बात पर विचार किया जाना आवश्यक है वह यह है कि क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में उच्च न्यायालय ने विद्‌वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार करते हुए निर्णय (निर्णयों) को उलट कर न्यायोचित किया है ?

6.1 आरंभ में, यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि उच्च न्यायालय ने द्‌वितीय अपील को मंजूर करते हुए और विद्‌वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्‌वारा पारित निर्णय (निर्णयों) और आदेश (आदेशों) को उलटते हुए विधि का सारभूत प्रश्न विरचित नहीं किया था, जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन विरचित किया जाना अपेक्षित है ।

6.2 अन्यथा भी, गुणागुण के आधार पर भी विक्रय करार में अनुबंधित निबंधनों और शर्तों को देखते हुए उच्च न्यायालय ने विनिर्दिष्ट पालन के लिए वह डिक्री पारित करके गलती की है जिससे विद्‌वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्‌वारा इनकार कर दिया गया था । विक्रय करार में सुसंगत खंड निम्नलिखित है :-

> "2. यह कि यदि दूसरा पक्षकार अनुबंधित समय के भीतर अतिशेष रकम का संदाय करने में असफल रहता है, तो अग्रिम समपहृत हो जाएगा और यदि प्रथम पक्षकार क्रेता या उसके नामनिर्देशिती के नाम में अनुबंधित समय के भीतर विक्रय करार और अन्य आवश्यक दस्तावेज का निष्पादन करने में असफल रहता है या इनकार करता है, तो विक्रेता अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का संदाय करने के लिए उत्तरदायी होगा ।"

6.3 इस प्रकार, विक्रय करार के खंड 2 के अनुसार यदि द्वितीय पक्षकार अनुबंधित समय के भीतर अतिशेष रकम का संदाय करने में असफल रहता है, तो अग्रिम समपहृत हो जाएगा और यदि विक्रेता अनुबंधित समय के भीतर क्रेता/खरीदार के पक्ष में या उसके नामनिर्देशितियों के नाम में विक्रय करार और अन्य आवश्यक दस्तावेज का निष्पादन करने में असफल रहता या इनकार करता है, तो विक्रेता अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुना का संदाय करने के लिए उत्तरदायी होगा । अत: विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने पर क्रेता/खरीदार अग्रिम के रूप में दी गई रकम के दोगुने का हकदार होगा । यह विवादग्रस्त नहीं किया जा सकता है कि वादी विक्रय करार का पक्षकार होने के कारण विक्रय करार में अनुबंधित निबंधनों और शर्तों द्वारा आबद्ध है । अत: विक्रय करार के खंड 2 का सही निर्वचन करके विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय ने विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से ठीक ही इनकार किया था और चार लाख रुपए, जो अग्रिम के रूप में दी गई रकम से दोगुनी रकम है, की वसूली के लिए डिक्री पारित करके ठीक किया था जो विक्रय करार के खंड 2 के अनुरूप था ।

6.4 **पी. डिसूजा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा इसी प्रकार के प्रश्न पर विचार किया गया था और **एम. एल. देवेन्द्र सिंह** बनाम **सय्यद खाजा**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय पर विचार करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त और अभिनिर्धारित किया कि जहां नामित राशि ऐसी रकम है जिसके संदाय को, उस व्यक्ति के चयन पर जिसके द्वारा धन का संदाय किया जाना है या जिसके द्वारा कार्य किया जाना है, उस कार्य को करने के स्थान पर प्रतिस्थापित किया जा सकता है, तो न्यायालय विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार कर सकता है । वर्तमान मामले में, विनिर्दिष्ट रूप से यह शर्त अनुबंधित है कि विक्रेता द्वारा अनुबंधित समय के भीतर विक्रय विलेख का निष्पादन करने में असफल रहने की दशा में क्रेता अग्रिम के रूप में दी गई रकम से दोगुनी रकम का हकदार

[1] (1973) 2 एस. सी. सी. 515.

होगा । अत: राशि को विनिर्दिष्ट रूप से नामित किया गया है अर्थात् संदाय किए गए अग्रिम की रकम से दोगुनी रकम । यद्यपि उच्च न्यायालय ने **पी. डिसूजा** (उपर्युक्त) वाले मामले में के विनिश्चय का अवलंब लिया है, तो भी उच्च न्यायालय द्वारा पूर्वोक्त पहलू पर, विशिष्ट रूप से पैरा 31 में की गई मताभिव्यक्तियों पर इसके सही परिप्रेक्ष्य में विचार नहीं किया गया है ।

7. उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय ने विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के विनिर्दिष्ट पालन के लिए डिक्री पारित करने से इनकार करते हुए और संदाय किए गए अग्रिम की रकम से दोगुना रकम के रूप में चार लाख रुपए की वसूली के लिए डिक्री पारित करते हुए समवर्ती निर्णय (निर्णयों) को अपास्त करके तात्विक रूप से गलती की है । इन परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश असंधार्य है ।

8. उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए और ऊपर उल्लिखित कारणों से पुनर्विलोकन आवेदन को नामंजूर करते हुए और उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में पारित निर्णय और आदेश से उद्भूत वर्तमान अपील (अपीलें) मंजूर की जाती हैं । परिणामत:, पुनर्विलोकन आवेदन में पारित आदेश और उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपील में विक्रय करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए अनुतोष प्रदान करते हुए पारित निर्णय और आदेश अभिखंडित और अपास्त किए जाने योग्य है/हैं और तद्नुसार अभिखंडित और अपास्त किए जाते हैं । परिणामत:, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री, जिसकी अभिपुष्टि प्रथम अपील न्यायालय द्वारा की गई थी, को प्रत्यावर्तित किया जाता है । प्रत्याक्षेप की खारिजी से उद्भूत अपील का निपटारा हो जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2023] 3 उम. नि. प. 96

अनबाझगन

बनाम

राज्य मार्फत पुलिस निरीक्षक

[2023 की दांडिक अपील सं. 2043]

20 जुलाई, 2023

न्यायमूर्ति बी. आर. गवई और न्यायमूर्ति जे. बी. पारदीवाला

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 304 भाग 1 और भाग 2 – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – अभियुक्त और मृतक के बीच खेत में रास्ते के प्रयोग को लेकर मौखिक कहा-सुनी होना और कहा-सुनी के दौरान अभियुक्त द्वारा एक कृषि औजार से मृतक के सिर पर केवल एक प्रहार किया जाना जिसके परिणामस्वरूप विपदग्रस्त बेहोश हो जाना और बाद में उसकी मृत्यु हो जाना – विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को धारा 304 के भाग 1 के अधीन दोषसिद्ध और दस वर्ष के कारावास से दंडादिष्ट किया जाना – उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि किया जाना – उच्चतम न्यायालय में अपील – जहां अभिलेख पर संपूर्ण साक्ष्य को देखने पर यह निष्कर्ष नहीं निकलता हो कि जब अभियुक्त-अपीलार्थी ने आक्रामक आयुध से मृतक पर प्रहार किया था, उसका आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो बल्कि केवल यह माना जा सकता हो कि अभियुक्त-अपीलार्थी को यह ज्ञान था कि यह संभाव्य है कि उसके कृत्य से विपदग्रस्त की मृत्यु होने की संभावना है, ऐसी परिस्थितियों में मामला संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत नहीं आने के कारण अभियुक्त-अपीलार्थी की धारा 304 के भाग 1 के अधीन दोषसिद्धि को धारा 304 के भाग 2 के अधीन परिवर्तित करते हुए पांच वर्ष के कठोर कारावास से दंडादिष्ट करना उचित होगा ।

दंड संहिता, 1860 – धारा 299, 300 और 304 भाग 2 – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – जहां किसी मामले में अभियुक्त द्वारा विपदग्रस्त पर केवल एक क्षति कारित की गई हो और वह

क्षति प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त पाई जाए, वहां ऐसा कृत्य करने के लिए अभियुक्त के दोषपूर्ण आशय या दोषपूर्ण ज्ञान के प्रश्न का अवधारण करने के लिए इस तथ्य पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या कृत्य अचानक हुई लड़ाई या झगड़े में पूर्व-चिंतन के बिना गया था या परिस्थितियों के आधार पर यह न्यायोचित हो कि क्षति आकस्मिक या अनाशय थी या केवल एक साधारण क्षति पहुंचाने का आशय था, तो दोषपूर्ण ज्ञान होने का निष्कर्ष निकलेगा और अपराध धारा 304 के भाग 2 के अधीन आएगा ।

इस अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि अपीलार्थी एक कृषक है । उसके पास तमिलनाडु में स्थित सिरुकिंथुपलायम नामक गांव में कृषि भूमि है । मृतक अर्थात् बालासुब्रमण्यम भी एक कृषक था और अपीलार्थी की कृषि भूमि से सटी उसकी अपनी कृषि भूमि थी । अपीलार्थी की कृषि भूमि से होकर जाने के लिए एक रास्ता था जिसको लेकर मृतक का कुछ विवाद था । घटना के समय, अपीलार्थी ने कस्सावा के पौधे (टपिओका) लगा रखे थे जो कटाई के लिए तैयार थे । तारीख 25 अक्तूबर, 2015 को लगभग 7.00 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी और उसका पिता फसल की कटाई कर रहे थे और इसे अपने खेत से ले जाने के लिए एक लॉरी की भी व्यवस्था की थी । मृतक घटनास्थल पर आया और लॉरी के ड्राइवर को यह कहते हुए धमकी दी कि वह अपीलार्थी की कृषि भूमि को जाने वाले रास्ते से अपनी लॉरी न ले जाए । उस सुसंगत समय पर, अपीलार्थी और उसका पिता अपने खेत में थे । अपीलार्थी ने कथित रूप से लॉरी के ड्राइवर को फसल लादने के लिए उसके खेत में लॉरी लाने के लिए कहा । इस पर मृतक द्वारा आपत्ति जताई गई जिसके परिणामस्वरूप झगड़ा हुआ । अपीलार्थी और मृतक के बीच कुछ समय तक मौखिक कहा-सुनी होने के पश्चात् अपीलार्थी ने अभिकथित रूप से बागवानी में प्रयुक्त होने वाला एक औजार उठाया और मृतक के सिर पर एक प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप मृतक बेहोश हो गया और बाद में अस्पताल में उसकी मृत्यु हो गई । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई और अन्वेषण पूर्ण होने पर पुलिस ने हत्या के अपराध के लिए आरोप पत्र फाइल किया । विचारण न्यायालय ने अभिलेख पर के मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य का मूल्यांकन करने के उपरांत और विशिष्ट रूप से घटना की उत्पत्ति, हमले की रीति और आयुध की प्रकृति को ध्यान में

रखते हुए यह दृष्टिकोण अपनाया कि मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का नहीं है अपितु भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध का कहा जा सकता है और तद्नुसार इस अपील में अपीलार्थी को दंडादिष्ट किया और सह-अभियुक्त को दोषमुक्त कर दिया गया । अभियुक्त द्वारा उच्च न्यायालय में अपील फाइल की गई और उच्च न्यायालय भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी अभिनिर्धारित करके सही किया है । अभियुक्त द्वारा व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील भागत: मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – भारतीय दंड संहिता, 1860 की क्रमश: धारा 299 और 300 की शब्दावली से तनिक संदेह नहीं रह जाता है कि इन धाराओं के अधीन जब यह कहा गया है कि कोई विशिष्ट कृत्य दंडनीय होने के लिए अमुक आशय से किया गया हो, तो अपेक्षित आशय को अभियोजन पक्ष द्वारा अवश्य साबित किया जाना चाहिए । यह अवश्य साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का यह लक्ष्य था या इच्छा थी कि उसके कृत्य से अमुक परिणाम निकलने चाहिएं । उदाहरण के लिए, जब धारा 299 के अधीन यह कहा गया है कि "जो कोई मृत्यु कारित करने के आशय से कोई कार्य करके मृत्यु कारित कर देता है" तो अवश्य यह साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का वह कृत्य करके विशिष्ट परिणाम प्राप्त करने अर्थात्, मृत्यु कारित करने का आशय था । इसी प्रकार, जब यह कहा गया है कि "जो कोई ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से जिससे मृत्यु कारित किया जाना संभव हो, कोई कार्य करके मृत्यु कारित कर देता है" तो अवश्य यह साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का उद्देश्य ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य था । इस प्रकार, आपराधिक मानव वध के अपराध को साबित किया गया अभिनिर्धारित करने के लिए आशय विषयक विधि की अपेक्षाओं का समाधान करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों विनिर्दिष्ट आशयों में से किसी एक को अवश्य साबित किया जाना चाहिए । किंतु यहां तक कि जब ऐसा आशय साबित नहीं होता है, तो अपराध आपराधिक मानव वध का

होगा यदि कृत्य करने वाला इस ज्ञान के साथ मृत्यु कारित करता है कि उसके ऐसे कृत्य से मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है अर्थात् इस ज्ञान के साथ कारित करता है कि उसके द्वारा ऐसा कृत्य करने का परिणाम ऐसा हो सकता है जिससे मृत्यु कारित हो सकती है । महत्वपूर्ण प्रश्न, जिस पर इस मामले में इस न्यायालय को सावधानीपूर्वक विचार करना है, यह है कि क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्धि को कायम रखना चाहिए या इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित करना चाहिए ? भारतीय दंड संहिता की धारा 299 और 300 क्रमशः 'आपराधिक मानव वध' और 'हत्या' की परिभाषा के संबंध में है । धारा 299 के निबंधनों के अनुसार 'आपराधिक मानव वध' को (i) मृत्यु कारित करने के आशय से या (ii) या ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य हो, या (iii) यह ज्ञान रखते हुए कि यह संभाव्य है कि उस कार्य से मृत्यु कारित कर दे, मृत्यु कारित करने के कृत्य के रूप में वर्णित किया गया है । जैसा कि इस उपबंध को पढ़ने से स्पष्ट है, इसका पूर्ववर्ती भाग 'आशय' अभिव्यक्ति पर जबकि पश्चात्वर्ती भाग 'ज्ञान' पर जोर देता है । ये दोनों सकारात्मक मानसिक दशाएं हैं, तथापि, मात्रा भिन्न-भिन्न है । 'आपराधिक मानव वध' में मानसिक तत्व अर्थात् आचरण के परिणामों के प्रति मानसिक दशा का संबंध आशय और ज्ञान से है । जब एक बार ऊपर उल्लिखित तीन रीतियों में से किसी रीति में अपराध किया जाता है, तो यह 'आपराधिक मानव वध' होगा । तथापि, भारतीय दंड संहिता की धारा 300 'हत्या' के संबंध में है, यद्यपि भारतीय दंड संहिता की धारा 300 में 'हत्या' की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है । जैसा कि इस न्यायालय द्वारा बारंबार अभिनिर्धारित किया गया है, 'मानव वध' मुख्य अपराध है और 'हत्या' उसका एक प्रकार है और सभी 'हत्याएं' 'आपराधिक मानव वध' हैं किंतु सभी 'मानव वध' 'हत्याएं' नहीं हैं । (पैरा 30, 31, 32 और 33)

घटना के दुर्भाग्यपूर्ण दिन पिता और पुत्र सवेरे-सवेरे अपने खेत में काम कर रहे थे । वे फसल का परिवहन करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने फसल की कटाई की और उस प्रयोजन के लिए उन्होंने एक लॉरी को बुलाया । लॉरी पहुंची, तथापि, मृतक ने लॉरी के ड्राइवर को विवादग्रस्त रास्ते का प्रयोग करने के लिए अनुज्ञा नहीं दी । इस कारण अपीलार्थी और मृतक के

बीच मौखिक कहा-सुनी हुई । मौखिक कहा-सुनी के कुछ समय पश्चात् अपीलार्थी ने मृतक के सिर पर आक्रामक आयुध (खरपतवार हटाने वाली कुल्हाड़ी) से एक प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी अस्पताल में मृत्यु हो गई । अभिलेख पर के संपूर्ण साक्ष्य को देखते हुए इस न्यायालय के लिए यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि जब अपीलार्थी ने आक्रामक आयुध से मृतक पर हमला किया था, तब उसका आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थी । वर्तमान मामले में आक्रामक आयुध एक सामान्य कृषि औजार है । यदि कोई व्यक्ति पर्याप्त ताकत के साथ सिर पर खरपतवार हटाने की कुल्हाड़ी से प्रहार करता है, तो मृत्यु कारित होना लाजिमी है, जैसा कि इस मामले में है । यह सही है कि मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट में दर्शाई गई क्षतियां भित्तिकास्थि के भंग के साथ-साथ शंखास्थि का अस्थिभंग हैं । मृतक की मृत्यु प्रमस्तिष्कीय संपीड़न अर्थात् सिर में आंतरिक क्षतियों के कारण हुई थी । तथापि, विवाद्य प्रश्न है – क्या यह बात ही यह निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त है कि अपीलार्थी का आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो । हमारा यह मत है कि अपीलार्थी पर केवल यह अभ्यारोपण किया जा सकता है कि उसे ज्ञान था कि ऐसी क्षति कारित होना संभाव्य है जिससे मृत्यु कारित हो सकती है । ऐसी परिस्थितियों में हम यह दृष्टिकोण अपनाने के लिए आनत हैं कि प्रस्तुत मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत नहीं आता है । मामले को पूर्वोक्त दृष्टि से देखते हुए और विशिष्ट रूप से ऊपर स्पष्ट किए गए विधि के सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए यह अपील भागत: मंजूर की जाती है । अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन परिवर्तित किया जाता है । परिवर्तित दोषसिद्धि के लिए अपीलार्थी को पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है । (पैरा 61 और 62)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2012] (2012) 8 एस. सी. सी. 289 :
रामपाल सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ; 33

[2007]	(2007) 14 एस. सी. सी. 588 : **फुलिया टुड्डु** बनाम **बिहार राज्य** ;	36, 37
[2007]	(2007) 14 एस. सी. सी. 660 : **विनीत कुमार चौहान** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	53
[2006]	(2006) 11 एस. सी. सी. 444 : **पुलिचेर्ला नागराजू** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य** ;	59
[2000]	(2000) 9 एस. सी. सी. 1 = 2000 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 1128 : **कैमिलो वाज़** बनाम **गोवा राज्य** ;	48
[1991]	(1991) 2 एस. सी. सी. 32 : **जय प्रकाश** बनाम **राज्य (दिल्ली प्रशासन) ;**	49
[1990]	(1990) सप्ली. एस. सी. सी. 291 : **हेम राज** बनाम **राज्य (दिल्ली प्रशासन)** ;	58
[1984]	ए. आई. आर. 1984 एस. सी. 759 : **थोलन** बनाम **तमिलनाडु राज्य** ;	54
[1983]	(1983) 4 एस. सी. सी. 159 : **जवाहर लाल** बनाम **पंजाब राज्य** ;	47
[1983]	(1983) 2 एस. सी. सी. 342 : **जगतार सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ;	57
[1982]	[1982] 2 उम. नि. प. 404 = (1981) 3 एस. सी. सी. 616 : **जगरूप सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य** ;	45, 46
[1981]	(1981) 4 एस. सी. सी. 245 : **कुलवंत राय** बनाम **पंजाब राज्य** ;	56
[1977]	[1977] 3 उम. नि. प. 1104 = (1976) 4 एस. सी. सी. 382 : **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **रायवरपू पुन्नय्या** ;	34, 53
[1966]	ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 148 : **अंदा** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	51

[1966]	ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1874 : **राजवंत सिंह** बनाम **केरल राज्य** ;	40, 50
[1964]	ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 986 : **श्रीमती माथरी** बनाम **पंजाब राज्य** ;	22
[1960]	ए. आई. आर. 1960 आंध्र प्रदेश 141 : **कुडुमुला महानंदी रेड्डी वाले मामले** ;	26
[1958]	ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 465 : **विरसा सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ;	36, 41, 43, 49
[1956]	ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 488 : **बासदेव** बनाम **पैप्सू राज्य** ;	23
[1956]	ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 116 : **विल्ली (विलियम) स्लेनी** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	55
[1954]	ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 652 : **चमरू पुत्र बुधवा** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	55
[1916]	ए. आई. आर. 1916 बंबई 191 : **एम्परर** बनाम **सरदारखान जरीदखान** ;	42
[1849]	(1849) 4 सीओएक्स सीसी 55(सी) : **रेग** बनाम **मोंकहाउस** ;	24
	आई. एल. आर. 25 बंबई 202 : **भगवंत** बनाम **केदारी** ।	22

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2023 की दांडिक अपील सं. 2043.

2019 की दांडिक अपील सं. 193 में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 4 अप्रैल, 2019 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री एस. नागमुथु, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एन. पी. प्रतिबान, (सुश्री) प्रियारंजिनी नागमुथु, आर. सुधाकरन, (सुश्री) शालिनी मिश्रा, जी. आर. विकास, बिलाल मंसूर और टी. हरि हरन सूधन

प्रत्यर्थी की ओर से श्री जोसफ अरिस्टोटल एस. और सुश्री वैदेही रस्तोगी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति जे. बी. पारदीवाला ने दिया ।

न्या. पारदीवाला – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील दोषसिद्ध अभियुक्त की प्रेरणा पर की गई है और 2019 की दांडिक अपील सं. 193 में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 4 अप्रैल, 2019 को पारित किए गए उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इस अपील में अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील को खारिज कर दिया और तद्द्वारा 2017 के सेशन मामला सं. 41 में अपर सेशन न्यायाधीश, नमक्कल द्वारा पारित दोषसिद्धि और दंडादेश के निर्णय और आदेश की अभिपुष्टि की गई ।

3. अभिलेख पर की सामग्री से यह प्रतीत होता है कि इस अपील में अपीलार्थी और उसके पिता का 2017 के सेशन मामला सं. 41 में अपर सेशन न्यायाधीश, नमक्कल के न्यायालय में भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए विचारण किया गया था । विचारण न्यायालय ने इस अपील में अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध के अपराध के लिए दोषी ठहराया और उसे 10,000/- रुपए के जुर्माने सहित दस वर्ष का कठोर कारावास भुगतने और जुर्माने की रकम के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया । सह-अभियुक्त अर्थात् अपीलार्थी के पिता को विचारण न्यायालय द्वारा दोषमुक्त कर दिया गया ।

4. इस अपील में अपीलार्थी विचारण न्यायालय द्वारा पारित दोषसिद्धि और दंडादेश के निर्णय और आदेश से असंतुष्ट होकर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील में गया । उच्च न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए अपीलार्थी की दोषसिद्धि की अभिपुष्टि करते हुए अपील खारिज कर दी ।

5. आरंभ में, अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री एस. नागमुथु ने दलील दी कि वह इस अपील पर गुणागुण के

आधार पर जोर नहीं दे रहा है । उन्होंने दलील दी कि उसका प्रयास केवल इस न्यायालय को अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 में प्रवर्तित करने और तद्नुसार दंडादेश को कम करने के लिए मनाने का है ।

तथ्यात्मक पृष्ठभूमि

6. अभिलेख पर के साक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि अपीलार्थी एक कृषक है । उसके पास तमिलनाडु में स्थित सिरुकिंथुपलायम नामक गांव में कृषि भूमि है । मृतक अर्थात् बालासुब्रमण्यम भी एक कृषक था और अपीलार्थी की कृषि भूमि से सटी उसकी अपनी कृषि भूमि थी । अपीलार्थी की कृषि भूमि से होकर जाने के लिए एक रास्ता था जिसको लेकर मृतक का कुछ विवाद था । घटना के समय, अपीलार्थी ने कस्सावा के पौधे (टपिओका) लगा रखे थे जो कटाई के लिए तैयार थे । तारीख 25 अक्तूबर, 2015 को लगभग 7.00 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी और उसका पिता फसल की कटाई कर रहे थे और इसे अपने खेत से ले जाने के लिए एक लॉरी की भी व्यवस्था की थी । लगभग 11.00 बजे पूर्वाह्न में मृतक घटनास्थल पर आया और लॉरी के ड्राइवर को यह कहते हुए धमकी दी कि वह अपीलार्थी की कृषि भूमि से होकर जाने वाले रास्ते से अपनी लॉरी न ले जाए । उस सुसंगत समय पर, अपीलार्थी और उसका पिता अपने खेत में थे । अपीलार्थी ने कथित रूप से लॉरी के ड्राइवर को फसल लादने के लिए उसके खेत में लॉरी लाने के लिए कहा । इस पर मृतक द्वारा आपत्ति जताई गई जिसके परिणामस्वरूप झगड़ा हुआ । अभियोजन का पक्षकथन यह है कि अपीलार्थी और मृतक के बीच कुछ समय तक मौखिक कहा-सुनी होने के पश्चात् अपीलार्थी ने अभिकथित रूप से एक "होई" (तमिल में कलाइकोट्टू - मुख्य रूप से खरपतवार हटाने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला लकड़ी के हत्थे के साथ जुड़ा धातु के एक छोटे फलक वाला बागवानी का औजार) उठाया और मृतक के सिर पर एक प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप मृतक बेहोश हो गया और बाद में अस्पताल में उसकी मृत्यु हो गई ।

7. तारीख 25 अक्तूबर, 2015 को 7.30 बजे अपराह्न में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई । अन्वेषण पूर्ण होने पर पुलिस ने हत्या के

अपराध के लिए आरोप पत्र फाइल किया । मामला सेशन न्यायालय के सुपुर्द किया गया क्योंकि अपराध अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय था । अपर सेशन न्यायाधीश, नमक्कल ने तारीख 6 सितंबर, 2017 के आदेश द्वारा निम्नलिखित आरोप विरचित किए :–

"जबकि मृतक बालासुब्रमण्यम अपनी पत्नी बेबी और परिवार के सदस्यों के साथ पंडामंगलम में राजकीय उच्च विद्यालय के निकट सेवलकट्टू में रह रहा था ; यह कि अभियुक्त-1, अभियुक्त-2 का पुत्र है ; यह कि दोनों अभियुक्त सिरुकिनत्राइपलयन स्थित पूसारीपलयम में रह रहे हैं ; दोनों अभियुक्तों और मृतक बालासुब्रमण्यम की एक-दूसरे के साथ सटी कृषि भूमि है ; यह कि इन दोनों भूमियों के बीच एक रास्ता था और दोनों पक्षकारों के बीच उस रास्ते के स्वामित्व के संबंध में लंबे समय से पहले से दुश्मनी थी । तारीख 25 अक्तूबर, 2015 को 7.30 बजे पूर्वाह्न में अभियुक्त-1 और अभियुक्त-2 अपने खेत से कटाई की गई टपिओका को श्री पलानिवल की लॉरी में, जिसका पंजीकरण संख्या टीएन 33 एएफ 3114 था, उस विवादित रास्ते पर उस लॉरी को खड़ा करके लाद रहे थे । उस समय पर मृतक बालासुब्रमण्यम वहां आया और उन्हें कहा कि लॉरी आगे नहीं जा सकती और उसे रोक दिया । फिर अभियुक्त-2 मृतक बालासुब्रमण्यम पर यह कहते हुए चिल्लाया 'यहां तेरा रास्ता नहीं है । जिसे चाहो ले आओ' और फिर अभियुक्त-1 और अभियुक्त-2 ने मृतक बालासुब्रमण्यम को धक्का देकर गिरा दिया और उसकी हत्या करने के आशय से अभियुक्त-1 ने मृतक बालासुब्रमण्यम के सिर पर 'खरपतवार काटने वाली कुल्हाड़ी (कलाईकोथी) से प्रहार किया' जबकि अभियुक्त-2 उस पर पत्थर फेंक रहा था जिससे मृतक बालासुब्रमण्यम को उसके सिर पर गंभीर क्षतियां पहुंचीं । बालासुब्रमण्यम को तुरंत वेलूर में राजकीय अस्पताल ले जाया गया और उसके पश्चात् नमक्कल में राजकीय अस्पताल ले जाया गया जहां उसे उपचार से कोई आराम नहीं हुआ और 5.20 बजे अपराह्न में मृत घोषित कर दिया गया । अतः आप अभियुक्तों ने भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध किया है और जिसका इस न्यायालय द्वारा विचारण किया जा सकता है ।

मैं तद्द्वारा आदेश जारी करता हूं कि आप दोनों अभियुक्त-1 और अभियुक्त-2 का उपरोक्त अपराध करने के लिए इस न्यायालय द्वारा विचारण किया जाए ।"

8. अपीलार्थी और सह-अभियुक्त (अपीलार्थी के पिता) ने पूर्वोक्त आरोप का दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने का दावा किया । यह प्रतीत होता है कि अभियोजन पक्ष ने कई सारे साक्षियों की परीक्षा की । तथापि, अभि. सा. 8, चिदंबरम और अभि. सा. 9, जीवा घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होने के कारण मुख्य साक्षी हैं । दोनों प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि घटना की तारीख को इस अपील में अपीलार्थी और मृतक के बीच रास्ते के संबंध में मौखिक कहा-सुनी हुई थी और अपीलार्थी ने कथित रूप से ऊपर यथा प्रगणित आक्रामक आयुध से मृतक के सिर पर एक प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई ।

मौखिक साक्ष्य

9. अभि. सा. 8 अर्थात् चिदंबरम ने अपनी मुख्य परीक्षा में निम्नलिखित अभिसाक्ष्य दिया :–

"मैं अब इंदिरा नगर, थाथियांगर पट्टी में रह रहा हूं । मैं मौजूद अभियुक्तों को जानता हूं । लगभग तीन वर्ष पहले मैं टपिओका की काटी हुई फसल के परिवहन के लिए पूसारी पलायम में अनबाझगन के खेत में अपनी लॉरी लाया था । सुब्रामणी, वीरासामी, राजा मणिक्कम और जीवा मेरे साथ थे । जब सुब्रामणी, वीरासामी, राजा मणिक्कम और जीवा टपिओका के कंदों की कटाई कर रहे थे, तो साथ वाले खेत के एक व्यक्ति ने बताया कि लॉरी को आगे नहीं ले जाया जाए चूंकि उसका (अभियुक्त) उस रास्ते को लेकर एक विवाद है जिस पर लॉरी खड़ी है । मैं मेरी लॉरी पर चढ़ा । उस समय अभियुक्त अनबाझगन अपने खेत में टपिओका की चुनाई कर रहा था । उसने फिर मुझे अपने खेत के निकट लॉरी लाने के लिए कहा । मैंने उसे वह बात बताई जो पड़ोसी ने मुझे कही थी । किंतु जैसे ही मैंने अपनी लॉरी को आगे बढ़ाया, अनबाझगन और पड़ोसी के बीच मौखिक झगड़ा हो गया । इसके पश्चात् अभियुक्त-2 उस स्थान पर आई । वह भी चिल्ला रही थी । अभियुक्त-1 अनबाझगन ने अपने दाएं हाथ में ली

हुई कुल्हाड़ी, तात्विक वस्तु 1 से पड़ोसी पर उसके सिर पर प्रहार किया । पड़ोसी को उसके मुंह पर क्षतियां पहुंचीं ।"

10. अभि. सा. 9 अर्थात् जीवा ने अपनी मुख्य परीक्षा में निम्नलिखित अभिसाक्ष्य दिया :–

"मैं अब इंदिरा नगर, थाथियांगर पट्टी में रह रहा हूं । मैं एक कुली हूं । मैं यहां मौजूद अभियुक्त को जानता हूं । मैं चिदंबरम, सुब्रामणी, वीरासामी, राजा मणिक्कम के साथ तारीख 25 अक्तूबर, 2015 को 7.30 बजे और 8.00 बजे पूर्वाह्न में पूसारी पलायम में अभियुक्त अनबाझगन के बाग में टपिओका की चुनाई के लिए गया था । हम कुंदों को इकट्ठा करने के लिए अनबाझगन के साथ खेत के अंदर गए । जब कुंदों को इकट्ठा करने के पश्चात् पौधों की सफाई कर रहे थे तब चिदंबरम खेत के अंदर लॉरी लेकर आने लगा । तुरंत मृतक बालासुब्रमण्यम अंदर आया । वह ड्राइवर पर चिल्ला रहा था और उसे कहा कि उसको किसने अंदर आने का प्राधिकार दिया है । उसने अनबाझगन को यह बात बताई । मृतक बालासुब्रमण्यम सड़क पर खड़ा था । वहां मौजूद दोनों अभियुक्त टपिओका इकट्ठा कर रहे थे । संयोगवश अभियुक्तों और मृतक के बीच मौखिक झगड़ा होने लगा । हम चुनाई किए गए कुंदों को ले रहे थे । लड़ाई बढ़ गई । ऊंची-ऊंची आवाज सुनकर हम सभी सड़क पर आ गए जहां मौखिक कहा-सुनी हो रही थी । उस समय पर अभियुक्त ने छंटाई करने वाली कुल्हाड़ी से मृतक पर उसके सिर पर प्रहार किया जिससे उसे क्षति पहुंचीं । वह तुरंत नीचे गिर गया ।"

11. अभि. सा. 18 डा. अनबूमलार ने अपनी मुख्य परीक्षा में निम्नलिखित कथन किया :-

"मैं वर्तमान में नमक्कल राजकीय जिला मुख्य अस्पताल में ज्येष्ठ डाक्टर के रूप में कार्यरत हूं । तारीख 26 अक्तूबर, 2015 को जब मैं ड्यूटी पर था, तब अरुणागिरी, हैड कांस्टेबल द्वारा बालासुब्रमण्यम (57 वर्षीय) नामक व्यक्ति का शव मरणोत्तर परीक्षा के लिए अनुज्ञा पत्र सहित लाया गया और तद्नुसार तारीख 26 अक्तूबर, 2015 को 2.15 बजे अपराह्न में मरणोत्तर परीक्षा की गई । मरणोत्तर परीक्षा का ब्यौरा निम्नलिखित है –

क्रमश: बाह्य क्षतियां

कान और नाक से रक्तस्राव हो रहा था । बाईं भौंह के ऊपर 3 सें. मी. × 2 सें. मी. की कटी हुई क्षति थी । बाईं ओर माथे पर 4 सें. मी. × 2 सें. मी. माप की कटी हुई क्षति पाई गई थी । खोपड़ी की अग्र अस्थि में दोनों तरफ (दोनों पार्श्विक अस्थि) अस्थिभंग था ।

आंतरिक निरीक्षण का ब्यौरा

खोपड़ी की अस्थि टूटी हुई थी और अंदरूनी परत फटी हुई थी । बाईं तरफ की कनपटी की हड्डी 7.5 सें. मी. टूटी हुई थी । खोपड़ी के तल पर रक्त का थक्का था । अंखुवा अंदर से लाल था । नौकाकार हड्डी सही थी । बाईं पसलियों 3 और 4 में अस्थिभंग था ।"

12. विचारण न्यायालय ने अभिलेख पर के मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य का मूल्यांकन करने के उपरांत और विशिष्ट रूप से घटना की उत्पत्ति, हमले की रीति और आयुध की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए यह दृष्टिकोण अपनाया कि मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का नहीं है अपितु भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध का कहा जा सकता है और तद्नुसार इस अपील में अपीलार्थी को दंडादिष्ट किया ।

13. उच्च न्यायालय भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी अभिनिर्धारित करके सही किया था ।

14. ऊपर निर्दिष्ट ऐसी परिस्थितियों में अपीलार्थी यहां इस न्यायालय के समक्ष वर्तमान अपील में आया है ।

अपीलार्थी की ओर से दलीलें

15. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री एस. नागमुथु ने दलील दी कि वह रीति जिसमें घटना घटी थी और अपीलार्थी पर आरोपित भूमिका पर विचार करते हुए भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दोषसिद्धि को धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित किया जाना चाहिए । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार,

मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत नहीं आता है । अपीलार्थी पर जो आरोप लगाया जा सकता है वह उसे अपने कृत्य का 'ज्ञान' होने का है 'न कि आशय' रखने का ।

प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से दलीलें

16. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्‌वान् काउंसेल डा. जोसफ अरिस्टोटल एस. ने दलील दी कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए ठीक ही दोषी अभिनिर्धारित किया है । विद्‌वान् काउंसेल के अनुसार, यह मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 की परिधि के अंतर्गत आने वाला मामला नहीं है । उन्होंने दलील दी कि मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत आता है । उन्होंने दलील दी कि भारतीय दंड संहिता की धारा 300 का अपवाद 4 लागू होता है और इसलिए न्यायालयों ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए ठीक ही दोषसिद्ध किया है ।

विश्लेषण

17. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्‌वान् काउंसेलों को सुनने के पश्चात् और अभिलेख पर की सामग्री का परिशीलन करने के पश्चात् एकमात्र प्रश्न जो हमारे विचार के लिए उत्पन्न होता है, यह है कि क्या अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्धि को आगे भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित किया जाना चाहिए या नहीं ।

18. हमने घटना की उत्पत्ति और अपीलार्थी पर अभ्यारोपित भूमिका के संबंध में भली-भांति विचार किया है । अभियोजन पक्ष द्‌वारा डा. कार्तिकेयन (अभि. सा. 15) की उस चिकित्सा अधिकारी के रूप में परीक्षा की गई थी जिसने मृतक की मरणोत्तर परीक्षा की थी । मरणोत्तर परीक्षा में डाक्टर ने तीन क्षतियों का उल्लेख किया है, (i) बाईं आंख पर 4 सें. मी. × 2 सें. मी. की काटने की क्षति, (ii) माथे पर बाईं तरफ 4 सें. मी. × 3 सें. मी. की काटने की क्षति, और (iii) बाईं आंख

के चारों ओर 4 सें. मी. × 2 सें. मी. का नील । मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट में दिया गया मृत्यु का कारण सिर पर पहुंची क्षति के कारण सदमा और रक्तस्राव होना प्रतीत होता है ।

19. चूंकि हमारे समक्ष दिया गया एकमात्र तर्क यह है कि मामला आपराधिक मानव वध से परे नहीं जाता है क्योंकि यह मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के तीसरे भाग के अंतर्गत आता है इसलिए केवल यह कहा जा सकता है कि अभियुक्त को यह ज्ञान था कि उसके कृत्य से मृत्यु हो जाना संभाव्य है और मृतक की हत्या करने का आशय नहीं था । हमें 'आशय' और 'ज्ञान' शब्दों के बीच के सूक्ष्म विभेद को स्पष्ट करना होगा ।

आशय और ज्ञान

20. "आशय शब्द" उद्देश्य या लक्ष्य शब्द से व्युत्पन्न होता है । "कृत्य" किसी व्यक्ति की हत्या करने के "आशय" से किया गया होना चाहिए ।

21. आशय को, जो एक मानसिक अवस्था है, कदापि एक तथ्य के रूप में प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा स्पष्ट रूप से साबित नहीं किया जा सकता ; इसका अनुमान या निष्कर्ष केवल उन अन्य तथ्यों से निकाला जा सकता है जो साबित किए जाते हैं । आशय को स्वीकारोक्ति करने पर संबंधित तथ्य और कार्य द्वारा, घटना या प्रसंग से पूर्व के या पश्चात् के कृत्यों या घटनाओं द्वारा साबित किया जा सकता है । किसी व्यक्ति के आशय को प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा साबित नहीं किया जा सकता, अपितु इसका निष्कर्ष मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से निकाला जाना चाहिए । ऐसी विभिन्न सुसंगत परिस्थितियां हैं जिनसे आशय का पता लगाया जा सकता है । कुछ सुसंगत बातें निम्नलिखित हैं :-

1. प्रयुक्त आयुध की प्रकृति ।
2. क्षतियां कारित करने का स्थान ।
3. कारित की गई क्षतियों की प्रकृति ।
4. उपलब्ध अवसर जो अभियुक्त को मिला ।

22. **श्रीमती माथरी** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में पृष्ठ 990 पर न्यायमूर्ति दास गुप्ता ने 'आशय' शब्द की अवधारणा को स्पष्ट किया है । सुसंगत मताभिव्यक्तियां **भगवंत** बनाम **केदारी**[2] वाले मामले में के विनिश्चय में न्यायमूर्ति बट्टी द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट करते हुए की गई हैं । वे निम्नलिखित हैं :–

> "अपनी व्युत्पति से ही 'आशय' शब्द लक्ष्य का रूपक संकेत होना प्रतीत होता है और जिससे तात्पर्य है 'उद्देश्य' और इस प्रकार पूर्व-अनुमानित एक आकस्मिक या मात्र संभाव्य परिणाम का द्योतक नहीं है – शायद एक अधिसंभाव्य घटना के रूप में पूर्वानुमान न किया हो, किंतु ऐसी इच्छा न हो- किंतु एक उद्देश्य का द्योतक है जिसके लिए प्रयास किया जाता है और इस प्रकार उस बात के प्रति संकेत है जिसे प्रमुख हेतु कहा गया है जिसके बिना कार्य न किया गया होता ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

23. **बासदेव** बनाम **पैप्सू राज्य**[3] वाले मामले में पृष्ठ 490 पर न्यायमूर्ति चंद्रशेखर अय्यर द्वारा निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की गई हैं :–

> "6. .... निस्संदेह, हमें हेतु, आशय और ज्ञान के बीच विभेद करना चाहिए । हेतु ऐसा कुछ है जो व्यक्ति को आशय का गठन करने के लिए प्रेरित करता है और ज्ञान कृत्य के परिणामों की जानकारी होना है । बहुत से मामलों में आशय और ज्ञान का आपस में विलय हो जाता है और कमोवेश उसका एक ही अर्थ हो जाता है तथा आशय की उपधारणा ज्ञान से की जा सकती है । ज्ञान और आशय के बीच सीमांकन रेखा निस्संदेह बारीक है किंतु यह समझना कठिन नहीं है कि वे भिन्न-भिन्न बातों के द्योतक हैं । यहां तक कि कुछ आंग्ल विनिश्चयों में भी तीन अवधारणाओं

---

[1] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 986.

[2] आई. एल. आर. 25 बंबई 202.

[3] ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 488.

को परस्पर परिवर्तनीय रूप में प्रयुक्त की गई हैं और इस कारण काफी भ्रम पैदा हुआ है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

24. निर्णय के पैरा 9 में, पृष्ठ 490 पर, **रेग** बनाम **मोंकहाउस**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति कॉलरिज द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट किया गया है । उन्हें इस प्रक्रम पर निर्दिष्ट करना लाभप्रद हो सकता है क्योंकि वे बहुत ही प्रदीपक हैं :–

"आशय के बारे में जांच करना इसके बजाय ज्यादा सरल है कि क्या कोई कृत्य किया गया है या नहीं, क्योंकि आप यह पता लगाने के लिए किसी व्यक्ति के मन को नहीं देख सकते कि अमुक समय पर उसके मन में क्या चल रहा था । उसका क्या आशय था इसका निर्णय केवल इस बात से किया जा सकता है उसने क्या किया है या क्या कहा है और यदि वह कुछ नहीं कहता है तब उसका कृत्य ही आपके विनिश्चय के लिए मार्गदर्शन करेगा । यह दांडिक विधि में एक साधारण नियम है जो अनुभवजनित बुद्धि पर आधारित है जिससे न्यायपीठों को उपधारणा करनी चाहिए कि जिस व्यक्ति ने जो कृत्य किया है उसके कृत्य का स्वाभाविक परिणाम क्या है । कभी-कभी परिणाम इतना स्पष्ट होता है जिससे आशय के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता है । कोई व्यक्ति ऐसी पिस्तौल को जिसके बारे में उसे पता है उसमें गोलियां भरी हैं, अन्य व्यक्ति के सिर पर उसको जान से मारने के आशय के बिना नहीं रख सकता और चला सकता, किंतु वहां भी पक्षकार की मानसिक स्थिति पर विचार किया जाना अति तात्विक है । उदाहरण के लिए, यदि ऐसा कृत्य किसी जन्मजात पागल द्वारा किया जाता है, तो उसके कृत्य से जान से मारने के आशय का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । इसलिए यदि यह साबित किया जाता है कि प्रतिवादी नशे में धूत था, तो प्रश्न अधिक जटिल हो जाता है किंतु यह उसी प्रकार का प्रश्न है अर्थात् क्या वह नशे के कारण उस पर आरोपित आशय का गठन करने के लिए पूर्णत: असमर्थ था ?"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

[1] (1849) 4 सीओएक्स सीसी 55(सी).

25. पूर्वोक्त विनिश्चय में सुझाए गए परीक्षण को ध्यान में रखते हुए और यह भी ध्यान में रखते हुए कि हमारे विधान-मंडल ने दो भिन्न-भिन्न शब्दावलियां 'आशय' और 'ज्ञान' प्रयुक्त की हैं और ऐसे कृत्य के लिए जो ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से किया गया है जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य हो, और ऐसे कृत्य के लिए जो ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय के बिना जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य हो, इस ज्ञान से किया गया है कि उसके कृत्य से मृत्यु हो जाना संभाव्य है, अलग-अलग दंड उपबंधित हैं इसलिए यह अभिनिर्धारित करना उचित होगा कि 'आशय' और 'ज्ञान' को एक-दूसरे के समान नहीं समझा जा सकता । वे भिन्न-भिन्न बातों के द्योतक हैं । कभी-कभी, यदि परिणाम बहुत ही स्पष्ट है, तो यह हो सकता है कि ज्ञान से आशय की उपधारणा की जा सके । किंतु इसका यह अर्थ नहीं होगा कि 'आशय' और 'ज्ञान' एक समान हैं । अपेक्षित आशय का अवधारण करते हुए या निष्कर्ष निकालते हुए 'ज्ञान' विचार की जाने वाली परिस्थितियों में से केवल एक परिस्थिति होगी ।

26. **कुडुमुला महानंदी रेड्डी वाले मामले**[1] में भी 'ज्ञान' और 'आशय' के बीच विभेद को समुचित रूप से स्पष्ट किया गया है । यह इस प्रकार है :–

> "ज्ञान और आशय में भ्रमित नहीं होना चाहिए ।
>
> 17. ...... जब तक प्रतिकूल साबित नहीं कर दिया जाता है, प्रत्येक व्यक्ति के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि वह अपने कृत्य के स्वाभाविक और अधिसंभाव्य परिणामों का आशय रखता था । अत: अपराधी के आशय के बारे में किसी विनिश्चय पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि यह जांच की जाए कि उसके कृत्य के स्वाभाविक और अधिसंभाव्य परिणाम क्या होंगे । जब एक बार यह साक्ष्य हो कि किसी मृतक व्यक्ति को ऐसी क्षतियां पहुंची थीं जो मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थीं, तो उस व्यक्ति के बारे में जिसने वे क्षतियां कारित की थीं, यह उपधारणा की जा सकती है कि वह उन स्वाभाविक और अधिसंभाव्य परिणामों का आशय रखता था । उसका अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे शीर्षक के अंतर्गत आएगा ।

[1] ए. आई. आर. 1960 आंध्र प्रदेश 141.

18. ..... किसी व्यक्ति के आशय का निष्कर्ष उस कार्य से निकाला जाना चाहिए जो वह करता है । किंतु ऐसे मामले होते हैं जिनमें मृत्यु कारित की गई हो और अपराधी पर सुरक्षित रूप से आरोपित किया जा सकने वाला आशय कम गंभीर हो । दोषिता की मात्रा आशय पर निर्भर करती है और आशय के बारे में निकाले जाने वाला निष्कर्ष साबित तथ्यों से निकाला जाना चाहिए । कभी-कभी ऐसा कृत्य किया जाता है जिससे सामान्य दशा में मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त क्षति न पहुंची हो किंतु उसके बारे में अपराधी जानता हो कि इससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है । ऐसे ज्ञान का सबूत उसके आशय पर प्रकाश डालेगा ।

19. .... धारा 299 के अधीन इस ज्ञान का सबूत होने की आवश्यकता नहीं है कि आशयित शारीरिक क्षति से मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य था । यह विनिश्चय करने से पूर्व कि आपराधिक मानव वध का मामला हत्या की कोटि में आता है, आशय का सबूत होना चाहिए जो इसे धारा 300 के अधीन लाने के लिए पर्याप्त हो । जहां जानबूझकर कारित की गई क्षति की मात्रा मात्र 'मृत्यु कारित होने की संभाव्यता' से कहीं अधिक हो किंतु मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त हो, तो उच्चतर मात्रा की दोषिता की उपधारणा की जाती है ।"

उसमें यह भी मत व्यक्त किया गया है कि :–

"26. .... जहां साक्ष्य से यह प्रकट नहीं होता है कि मृतक की मृत्यु कारित करने का कोई आशय था किंतु यह स्पष्ट हो कि अभियुक्तों को यह ज्ञान था कि उनके कृत्य से मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है, तो अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के दूसरे भाग के अधीन दोषी अभिनिर्धारित किया जा सकता है । यह दलील कि भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन मामले को लाने के लिए इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवादों में से किसी एक अपवाद के भीतर लाया जाना आवश्यक है, स्वीकार्य नहीं है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

27. इस प्रकार, आपराधिक मानव वध और हत्या के अपराध को परिभाषित करते हुए भारतीय दंड संहिता के रचयिताओं ने यह अधिकथित किया कि अभियुक्त को, यथास्थिति, आपराधिक मानव वध या हत्या के अपराध के लिए दोषी ठहराने के लिए उस पर अपेक्षित आशय या ज्ञान का अभ्यारोपण किया जाना आवश्यक है जब उसने वह कृत्य किया था जिससे मृत्यु कारित हुई थी । भारतीय दंड संहिता के रचयिताओं ने जानबूझकर दो शब्दों 'आशय' और 'ज्ञान' का प्रयोग किया और अवश्य यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि रचयिताओं का आशय इन दोनों अभिव्यक्तियों के बीच विभेद करने का था । उन परिणामों का ज्ञान होना जो कोई कृत्य करने के परिणामस्वरूप हो सकते हैं, वही बात नहीं है जो आशय रखने में रहता है कि ऐसे परिणाम निकलने चाहिएं । उन मामलों के सिवाय जहां आपराधिक मन:स्थिति यह साबित करने के लिए अपेक्षित नहीं है कि किसी व्यक्ति को कतिपय ज्ञान था, उसे "अवश्य यह जानकारी होनी चाहिए कि कतिपय विनिर्दिष्ट अपहानिकर परिणाम निकलेंगे या निकल सकते हैं ।" (**रस्सल ऑन क्राइम,** 12वां संस्करण वाल्यूम 1, पृष्ठ 40) ।

28. इस जानकारी का होना ज्ञान के रूप में कहा गया है । किंतु यह ज्ञान कि कोई कृत्य करने से विनिर्दिष्ट परिणाम निकलेंगे या निकल सकते हैं, वही बात नहीं है जैसा कि आशय में रहता है कि ऐसे परिणाम निकलने चाहिएं । यदि किसी व्यक्ति द्वारा कोई कृत्य इस ज्ञान के साथ किया जाता है कि कतिपय परिणाम निकल सकते हैं या निकलेंगे, तो इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि उसने ऐसे परिणामों को आशयित किया था और ऐसे आशय से कार्य किया था । परिणामों के मात्र पूर्वानुमान की अपेक्षा आशय के लिए कुछ अधिक होना आवश्यक है । इसके लिए एक विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सोद्देश्य कोई कार्य किया जाना अपेक्षित है । इस विषय पर प्रमुख पाठ्य पुस्तक से दो लेखांशों को निर्दिष्ट करके हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं । कैन्नी ने अपनी **आउटलाइन्स ऑफ क्रिमिनल लॉ**, सतरहवां संस्करण, पृष्ठ 31 पर यह मत व्यक्त किया है :–

> "आशय रखने का मतलब है मस्तिष्क में कोई निश्चित प्रयोजन रखना जिससे कोई वांछित लक्ष्य प्राप्त किया जा सके ; वर्तमान संबंध में 'आशय' संज्ञा है जिसका प्रयोग ऐसे व्यक्ति के मन की दशा को

उपदर्शित करने के लिए किया गया है जो अपने आचरण के बारे में न केवल जागरूक है बल्कि उसके परिणामस्वरूप संभावित लक्ष्य को भी पूरा करना चाहता है.....। यह उल्लेखनीय है कि तब तक आशय नहीं हो सकता जब तक कि उसमें दूरदृष्टि शामिल न हो, चूंकि किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत समाधान के लिए उसका विनिश्चय करना होता है और तद्नुसार वह अवश्य उस दिशा में अभिव्यक्त प्रयोजन का पूर्वानुमान करेगा । पुन:, कोई व्यक्ति कोई काम करने का आशय तब तक नहीं रख सकता जब तक वह उसे करने की इच्छा न रखे ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

29. **रस्सेल ऑन क्राइम,** बारहवां संस्करण, प्रथम वाल्यूम, पृष्ठ 41 पर यह मत व्यक्त किया गया है :–

"अपराध के मानसिक तत्व का प्रस्तुत विश्लेषण करते समय 'आशय' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे व्यक्ति की मानसिक दशा को दर्शित करता है जिसने किसी कार्य से यदि वह उसको करने में सफल हो जाता है तो कतिपय परिणाम निकलेंगे । वह अपने आचरण को उस अनुरूप ढालता है जिससे कि एक विशिष्ट उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके जिस पर उसका लक्ष्य टिका है .....। आशय से भिन्न, तो भी इससे बिल्कुल मिलती-जुलती दो अन्य मनोवृत्तियां हैं जिनमें से कोई एक उसकी प्रेरणा के अनुसरण में किए गए कार्य के परिणामस्वरूप होने वाली अपहानि के लिए विधिक शास्ति को लागू करने के लिए पर्याप्त है, किंतु दोनों को 'बेताहाशा' शब्द द्वारा सूचित किया जा सकता हो । इनमें से प्रत्येक में व्यक्ति आशय के साथ आचरण की दिशा उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अपनाता है जिसकी वह आकांक्षा रखता है किंतु साथ ही साथ यह महसूस करता है कि इस आचरण से कोई अन्य परिणाम भी निकल सकता है जिसकी वह आकांक्षा न रखता हो । इस दशा में वह इस पूर्ण ज्ञान के साथ कार्य करता है कि वह यह जोखिम ले रहा है कि यह दूसरा परिणाम तो निकलेगा । यहां, पुन: यदि दूसरा परिणाम ऐसा है जो विधि द्वारा निषिद्ध है तब वह इसके लिए आपराधिक रूप से उत्तरदायी होगा यदि यह घट जाता

है । उसकी स्पष्ट मनोवृत्ति दो प्रकारों में से एक प्रकार की होगी – (क) वह चाहेगा कि अपहानिकर परिणाम नहीं होना चाहिए, या (ख) वह इस बात से बेपरवाह रहेगा कि ऐसा होता है या नहीं होता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

30. भारतीय दंड संहिता की क्रमशः धारा 299 और 300 की शब्दावली से तनिक संदेह नहीं रह जाता है कि इन धाराओं के अधीन जब यह कहा गया है कि कोई विशिष्ट कृत्य दंडनीय होने के लिए अमुक आशय से किया गया हो, तो अपेक्षित आशय को अभियोजन पक्ष द्वारा अवश्य साबित किया जाना चाहिए । यह अवश्य साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का यह लक्ष्य था या इच्छा थी कि उसके कृत्य से अमुक परिणाम निकलने चाहिएं । उदाहरण के लिए, जब धारा 299 के अधीन यह कहा गया है कि "जो कोई मृत्यु कारित करने के आशय से कोई कार्य करके मृत्यु कारित कर देता है" तो अवश्य यह साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का वह कृत्य करके विशिष्ट परिणाम प्राप्त करने अर्थात्, मृत्यु कारित करने का आशय था । इसी प्रकार, जब यह कहा गया है कि "जो कोई ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से जिससे मृत्यु कारित किया जाना संभव हो, कोई कार्य करके मृत्यु कारित कर देता है" तो अवश्य यह साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त का उद्देश्य ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य था ।

31. इस प्रकार, आपराधिक मानव वध के अपराध को साबित किया गया अभिनिर्धारित करने के लिए आशय विषयक विधि की अपेक्षाओं का समाधान करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों विनिर्दिष्ट आशयों में से किसी एक को अवश्य साबित किया जाना चाहिए । किंतु यहां तक कि जब ऐसा आशय साबित नहीं होता है, तो अपराध आपराधिक मानव वध का होगा यदि कृत्य करने वाला इस ज्ञान के साथ मृत्यु कारित करता है कि उसके ऐसे कृत्य से मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है अर्थात् इस ज्ञान के साथ कारित करता है कि उसके द्वारा ऐसा कृत्य करने का परिणाम ऐसा हो सकता है जिससे मृत्यु कारित हो सकती है ।

32. महत्वपूर्ण प्रश्न, जिस पर इस मामले में हमें सावधानीपूर्वक

विचार करना है, यह है कि क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर हमें अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्धि को कायम रखना चाहिए या हमें इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित करना चाहिए ?

भारतीय दंड संहिता की धारा 299 और 300

33. भारतीय दंड संहिता की धारा 299 और 300 क्रमशः 'आपराधिक मानव वध' और 'हत्या' की परिभाषा के संबंध में है । धारा 299 के निबंधनों के अनुसार 'आपराधिक मानव वध' को (i) मृत्यु कारित करने के आशय से या (ii) या ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य हो, या (iii) यह ज्ञान रखते हुए कि यह संभाव्य है कि उस कार्य से मृत्यु कारित कर दे, मृत्यु कारित करने के कृत्य के रूप में वर्णित किया गया है । जैसा कि इस उपबंध को पढ़ने से स्पष्ट है, इसका पूर्ववर्ती भाग 'आशय' अभिव्यक्ति पर जबकि पश्चात्वर्ती भाग 'ज्ञान' पर जोर देता है । ये दोनों सकारात्मक मानसिक दशाएं हैं, तथापि, मात्रा भिन्न-भिन्न है । 'आपराधिक मानव वध' में मानसिक तत्व अर्थात् आचरण के परिणामों के प्रति मानसिक दशा का संबंध आशय और ज्ञान से है । जब एक बार ऊपर उल्लिखित तीन रीतियों में से किसी रीति में अपराध किया जाता है, तो यह 'आपराधिक मानव वध' होगा । तथापि, भारतीय दंड संहिता की धारा 300 'हत्या' के संबंध में है, यद्यपि भारतीय दंड संहिता की धारा 300 में 'हत्या' की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है । जैसा कि इस न्यायालय द्वारा बारंबार अभिनिर्धारित किया गया है, 'मानव वध' मुख्य अपराध है और 'हत्या' उसका एक प्रकार है और सभी 'हत्याएं' 'आपराधिक मानव वध' हैं किंतु सभी 'मानव वध' 'हत्याएं' नहीं हैं । (**रामपाल सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाला मामला देखें) ।

34. **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **रायवरपू पुन्नय्या**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने दोनों शब्दों और उनके परिणामों के बीच विभेद को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :–

---

[1] (2012) 8 एस. सी. सी. 289.

[2] [1977] 3 उम. नि. प. 1104 = (1976) 4 एस. सी. सी. 382.

"12. <u>दंड संहिता की स्कीम में 'आपराधिक मानव वध' मुख्य अपराध है और हत्या उसका एक प्रकार है । शब्द 'हत्याएं' 'आपराधिक मानव वध' होते हैं किंतु सभी आपराधिक मानव वध हत्या नहीं होते । मोटे तौर पर, हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध होता है । दंड नियत करने के प्रयोजनार्थ इस सामान्य अपराध की गंभीरता के अनुपात के अनुसार संहिता में वस्तुतः आपराधिक मानव वध की तीन कोटियां मानी गई हैं । प्रथम वह जिसे कि 'प्रथम कोटि का मानव वध' कहा जा सकता है । यह आपराधिक मानव वध का अत्यधिक गंभीर रूप है जो कि धारा 300 में 'हत्या' के रूप में परिभाषित है । दूसरे को 'द्वितीय कोटि का आपराधिक मानव वध' कहा जा सकता है जो कि धारा 304 के प्रथम भाग के अधीन दंडनीय है । इसके पश्चात् तीसरी कोटि का मानव वध है । यह आपराधिक मानव वध सबसे निम्न प्रकार का है और इसके लिए उपबंधित दंड भी तीनों कोटियों के लिए उपबंधित दंडों में सबसे कम है । इस कोटि का आपराधिक मानव वध धारा 304 के द्वितीय भाग के अधीन दंडनीय है ।</u>"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

35. भारतीय दंड संहिता की धारा 300 भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के प्रतिनिर्देश के साथ अग्रसर होती है । भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के निबंधनों के अनुसार 'आपराधिक मानव वध' 'हत्या' की कोटि में आ भी सकता है और नहीं भी । जब कोई 'आपराधिक मानव वध हत्या है', तो शास्तिक परिणाम भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के निबंधनों के अनुसार होंगे जबकि दूसरे मामलों में अर्थात् जहां अपराध 'हत्या की कोटि में न आने वाला मानव वध' है तो दंड भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के अधीन दिया जाएगा । इस न्यायालय के विभिन्न निर्णय ऐसे मामलों के संबंध में हैं जो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अधीन उल्लिखित क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे वर्ग के अंतर्गत आते हैं । हमारे लिए मामले के इस पहलू पर और आगे विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।

36. **विरसा सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में उल्लिखित सिद्धांत न्यायालयों के लिए यह अवधारण करने हेतु मामलों पर विचार करते हुए कि वे भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के किस विशिष्ट खंड में आते हैं, अपने न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग करने के लिए व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांत हैं । इस न्यायालय ने बारंबार भारतीय दंड संहिता की धारा 299 और 300 अर्थात् क्रमश: 'आपराधिक मानव वध' और 'हत्या' के बीच विभेद के जटिल प्रश्न पर विचार किया है । **फुलिया टुडु** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि यदि न्यायालय इन धाराओं में विधान-मंडल द्वारा प्रयुक्त पदों की व्याप्ति और सही अर्थ की अनदेखी करेंगे तो भ्रम पैदा हो सकता है । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपबंधों के निर्वचन और लागू होने के संबंध में दृष्टिकोण अपनाने के लिए सबसे निरापद ढंग इन धाराओं के विभिन्न खंडों में प्रयुक्त मुख्य शब्दों को ध्यान में रखना है ।

37. **फुलिया टुडु** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि 'हत्या' और 'हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध' के बीच शास्त्रीय विभेद ने न्यायालयों को सदैव परेशान किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि यदि न्यायालय इन धाराओं में विधान-मंडल द्वारा प्रयुक्त पदों की सही परिधि और अर्थ पर ध्यान न देते हुए सूक्ष्म बातों में उलझ जाए तो भ्रांति उत्पन्न हो जाती है । इन उपबंधों के निर्वचन और लागू होने के संबंध में दृष्टिकोण अपनाने के लिए अत्यधिक निरपाद ढंग भारतीय दंड संहिता की धारा 299 और 300 के विभिन्न खंडों में प्रयुक्त किए गए मुख्य शब्दों को ध्यान में रखना है । दोनों अपराधों के बीच विभेद की बातों को समझने के लिए निम्नलिखित तुलनात्मक सारणी लाभप्रद होगी :–

धारा 299	**धारा 300**
उस दशा में व्यक्ति आपराधिक मानव वध करता है जबकि वह	कुछ अपवादों के अधीन रहते हुए आपराधिक मानव वध हत्या है यदि वह कार्य जिसके द्वारा मृत्यु कारित की गई हो –

---

[1] ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 465.

[2] (2007) 14 एस. सी. सी. 588.

कार्य जिसके द्‌वारा मृत्यु कारित की गई है ;	

आशय

(क) मृत्यु कारित करने के आशय से किया जाता है ।	(1) मृत्यु कारित करने के आशय से किया गया है ; या
(ख) ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से किया जाता है जिससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है ; या	(2) ऐसी शारीरिक क्षति पहुंचाने के आशय से किया गया है जिससे अपराधी जानता है कि उस व्यक्ति की मृत्यु कारित करना संभाव्य है जिसको वह अपहानि की गई है ; या (3) वह किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से किया गया है और वह शारीरिक क्षति जिसके करने का आशय है, प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है ; या

ज्ञान

(ग) यह ज्ञान रखते हुए किया जाता है कि यह संभाव्यत: है कि वह उस कार्य से मृत्यु कारित कर दे ।	(4) इस ज्ञान से किया गया है कि वह कार्य इतना आसन्न-संकट है कि पूरी अधिसंभाव्यता है कि वह मृत्यु कारित कर ही देगा जिससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है और वह मृत्यु कारित करने या पूर्वोक्त प्रकार की क्षति कारित करने की जोखिम उठाने के लिए किसी प्रतिहेतु के बिना ऐसा कार्य करता हो ।

38. भारतीय दंड संहिता की धारा 299 का खंड (ख) भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (2) और (3) का तत्समानी है । खंड (2) के अधीन अपेक्षित आपराधिक मन:स्थिति वाली प्रभेदक बात विशिष्ट आहत व्यक्ति के स्वास्थ्य की ऐसी विशेष दशा या स्थिति की बाबत अपराधी की जानकारी है जिसमें कि उसे साशय कारित अपहानि का इस तथ्य के होते हुए भी कि प्राणांतक होना स्वाभाविक है कि ऐसी अपहानि प्रकृति के मामूली अनुक्रम में अच्छे स्वस्थ व्यक्ति की हत्या कारित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी । यह बात उल्लेखनीय है कि 'हत्या कारित करने का आशय' खंड (2) की अनिवार्य अध्यापेक्षा नहीं है । अपराधी की इस जानकारी के साथ कि यह संभाव्य है कि ऐसी क्षति विशिष्ट आहत व्यक्ति की मृत्यु कारित कर देगी, केवल ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का आशय हत्या को इस खंड की व्याप्ति के अंतर्गत लाने के लिए पर्याप्त होता है । खंड (2) के इस पहलू की पुष्टि धारा 300 में दिए गए दृष्टांत (ख) से हो जाती है ।

39. भारतीय दंड संहिता की धारा 299 का खंड (ख) अपराधी के ऐसे किसी ज्ञान की धारणा नहीं करता है । भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (2) के अधीन आने वाले मामलों के उदाहरण वे हो सकते हैं जिनमें कि हमलावर यह जानते हुए कि आहत व्यक्ति का जिगर बढ़ा हुआ है या तिल्ली बढ़ी हुई है या उसका हृदय रोगग्रस्त है और यह संभाव्य है कि ऐसा प्रहार, यथास्थिति, जिगर या तिल्ली के फट जाने या हृदयघात के परिणामस्वरूप उस व्यक्ति विशेष की हत्या कारित कर देगा, साशय किए गए मुक्के के प्रहार से उस व्यक्ति की मृत्यु कारित कर देता है । यदि हमलावर को आहत की बीमारी या विशेष कमजोरी की बाबत ऐसा ज्ञान न हो, न ही उसकी मृत्यु कारित करने या ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का आशय हो जो कि मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त होती है तो अपराध हत्या नहीं होगा, भले ही जिस क्षति के कारण मृत्यु हुई थी वह साशय पहुंचाई गई हो । भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (3) में भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के तत्समानी खंड (ख) में आने वाले 'जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है' शब्दों के स्थान पर 'प्रकृति के मामूली अनुक्रम में ..... पर्याप्त हो' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं । स्पष्ट है कि प्रभेद ऐसी शारीरिक क्षति जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य हो और

ऐसी शारीरिक क्षति, जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो, के बीच है । यह प्रभेद सूक्ष्म किंतु वास्तविक है और यदि इसकी उपेक्षा की जाए तो इसके परिणामस्वरूप न्याय की विफलता हो सकती है । भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के खंड (ख) और भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (3) के बीच प्रभेद आशयित शारीरिक क्षति के परिणामस्वरूप मृत्यु की अधिसंभाव्यता की मात्रा विषयक है । मोटे तौर पर, मृत्यु की अधिसंभाव्यता की मात्रा ही इस बात का अवधारण करती है कि क्या आपराधिक मानव वध अति घोर कोटि का या मध्यम कोटि का या निम्नतम कोटि का है । भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के खंड (ख) में 'संभाव्य है' शब्द मात्र संभावना से भिन्न अधिसंभाव्यता का अर्थ देते हैं । 'वह शारीरिक क्षति ...... प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है' शब्दों से यह अभिप्रेत है कि प्रकृति के मामूली अनुक्रम को ध्यान में रखते हुए मृत्यु क्षति का अत्यधिक अधिसंभाव्य परिणाम होगा ।

40. यदि मृत्यु उस साशय शारीरिक क्षति या क्षतियों के परिणामस्वरूप होती है जो कि प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त होती है तो मामलों के तीसरे खंड के अंतर्गत आने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अपराधी का आशय मृत्यु कारित करने का था । **राजवंत सिंह** बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में, का विनिश्चय इस प्रश्न के विषय में एक स्पष्ट दृष्टांत है ।

41. भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड की व्याप्ति इस न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों की विषयवस्तु रहा है । **विरसा सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में के विनिश्चय का इस न्यायालय द्वारा सतत रूप से अनेक मामलों में अनुसरण किया गया है । इन सभी मामलों में दृष्टिकोण यह पता लगाने का रहा है कि क्या संघटक अर्थात् विशिष्ट क्षति कारित करने का आशय मौजूद था या नहीं ? यदि वह विशिष्ट क्षति कारित करने के आशय को सिद्ध किया जाता है और यदि क्षति प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त पाई जाती है, तो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 का तीसरा खंड लागू होता है । तीसरे खंड का विश्लेषण करते हुए और अभियोजन पक्ष को

---

[1] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1874.

अवश्य क्या सिद्ध करना होगा, **विरसा सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :–

"15. पहला, अत्यंत व्यक्तिपरक रूप से यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि शारीरिक क्षति विद्‌यमान है ;

16. दूसरा, क्षति की प्रकृति साबित की जानी चाहिए ; ये पूर्णत: व्यक्तिपरक अन्वेषण हैं ;

17. तीसरा, यह अवश्य साबित किया जाना चाहिए कि वह विशिष्ट शारीरिक क्षति कारित करने का आशय था अर्थात् यह कि वह क्षति दुर्घटनावश या अनायास नहीं थी अथवा किसी अन्य प्रकार की क्षति पहुंचाए जाने का आशय नहीं था ...... ;

18. एक बार जब ये तीनों तत्व मौजूद होना साबित कर दिए जाते हैं तब जांच आगे बढ़ाई जाती है ; और

19. चौथा, यह साबित किया जाना चाहिए कि जिस प्रकार की क्षति का वर्णन किया गया है उसमें तीनों तत्व मौजूद हैं और वह प्रकृति सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है । जांच का यह भाग पूर्ण रूप से व्यक्तिपरक और अनुमानित है और इसका अपराधी के आशय से कोई संबंध नहीं है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

आगे निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया :–

"20. .... यदि उन्होंने उस तरह की क्षति पहुंचाई है तो उन्हें उसका परिणाम भुगतना चाहिए ; और वे तभी बच सकते हैं यदि यह दर्शित किया जा सके या युक्तियुक्त रूप से यह निष्कर्ष निकले कि क्षति दुर्घटना के कारण या अन्यथा बिना किसी आशय के पहुंचाई गई है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

42. इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि तीसरे खंड का संघटक मृत्यु कारित करने का आशय नहीं है । किंतु दूसरी ओर, साबित किया जाने वाला संघटक वह विशिष्ट क्षति कारित करने का आशय है जो मौजूद

थी । यह दलील देना गलत है कि जब मृत्यु एक ही प्रहार से कारित की गई हो तब अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना केवल आपराधिक मानव वध का मामला सिद्ध होता है । **एम्परर** बनाम **सरदारखान जरीदखान**[1] वाले मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :–

> "जहां मृत्यु एक ही प्रहार से कारित की जाती है, वहां सदैव पूर्ण रूप से यह निश्चित किया जाना अधिक कठिन है कि अपराधी का आशय किस मात्रा की शारीरिक क्षति कारित करने का था ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

43. बंबई उच्च न्यायालय की पूर्वोक्त मताभिव्यक्ति पर टिप्पणी करने के उपरांत न्यायमूर्ति बोस ने **विरसा सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया :–

> "23. ...... विद्वान् न्यायाधीश के प्रति पूरा सम्मान रखते हुए, उन्होंने अपेक्षित आशय को क्षति की गंभीरता के साथ जोड़ा है और जैसा कि हमने दर्शित किया है, यह बात वह नहीं है जो धारा में अपेक्षित है । दोनों बातें पूरी तरह अलग और सुभिन्न हैं । यद्‌यपि उनके बारे में साक्ष्य कभी-कभी परस्पर-व्यापी हो सकता है ।"

44. यहां तक कि एक ही क्षति के मामले में आशय का निष्कर्ष कैसे निकाला जाना चाहिए, न्यायमूर्ति बोस ने आगे निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :–

> "23. ...... प्रश्न यह नहीं है कि कैदी का आशय गंभीर क्षति पहुंचाने का था या मामूली क्षति, बल्कि क्या उसका आशय वह क्षति पहुंचाने का था जिसके बारे में साबित किया गया है कि वह मौजूद है । यदि वह यह दर्शित कर सकता है कि उसने ऐसा नहीं किया था अथवा यदि समग्र परिस्थितियों से ऐसा निष्कर्ष न्यायोचित लगता है, तो निस्संदेह वह आशय जिसकी अपेक्षा इस धारा में की गई है, साबित नहीं होता । किंतु यदि कोई बात ऐसी नहीं है जो पहुंचाई गई क्षति से बाहर है तो यह तथ्य है कि अपीलार्थी ने ही वह क्षति पहुंचाई है, तब

[1] ए. आई. आर. 1916 बंबई 191.

एकमात्र संभाव्य निष्कर्ष यह निकलता है कि उसका आशय ऐसी क्षति पहुंचाने का था । वह उसकी गंभीरता या आशयित गंभीर परिणामों को जानता था या नहीं, यह बात कहीं भी नहीं है । जहां तक आशय का संबंध है, प्रश्न यह नहीं है कि उसका आशय हत्या करने का था या किसी विशिष्ट गंभीरता की मात्रा की क्षति पहुंचाने का था, अपितु क्या उसका आशय प्रश्नगत क्षति पहुंचाने का था ; और एक बार जब क्षति विद्यमान होने की बात साबित कर दी जाती है, तो उसे पहुंचाए जाने के बारे में उपधारणा कर ली जाएगी जब तक कि साक्ष्य या परिस्थितियों से विपरीत निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता न हो । किंतु आशय मौजूद है या नहीं, यह तथ्य की बात है न कि विधि की । घाव गंभीर है या अन्यथा और यदि गंभीर है तो इतना गंभीर है, यह पूर्ण रूप से एक अलग और सुभिन्न प्रश्न है और इसका इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि कैदी का आशय प्रश्नगत क्षति पहुंचाने का था या नहीं ।

24. यह सच है कि किसी प्रस्तुत मामले में जांच को क्षति की गंभीरता से जोडा जा सकता है । उदाहरण के लिए, यदि यह साबित किया जा सकता है और यदि समग्र परिस्थितियों से न्यायोचित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कैदी का आशय उपरि खरोंच कारित करने का था और उसके अपराध का शिकार व्यक्ति दुर्घटनावश लडखडाया और उस तलवार या फरसे पर गिर गया था जिसका प्रयोग किया गया था, तब निस्संदेह अपराध हत्या का नहीं है । किंतु यहां ऐसा नहीं है क्योंकि कैदी का यह आशय नहीं था कि जो क्षति उसने पहुंचाई थी उसे इतनी गंभीरता से पहुंचाया था जितनी वह हो गई । किंतु उसका आशय प्रश्नगत क्षति पहुंचाने का बिल्कुल नहीं था । ऐसे मामले में उसका आशय पूर्णत: भिन्न क्षति पहुंचाने का होगा । यहां दोनों में अंतर विधि का नहीं बल्कि तथ्य का है ......।”

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

45. **जगरूप सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में इस

[1] [1982] 2 उम. नि. प. 404 = (1981) 3 एस. सी. सी. 616.

न्यायालय के न्यायमूर्ति डी. ए. देसाई और न्यायमूर्ति ए. पी. सेन से मिलकर बनी न्यायपीठ द्वारा इस प्रश्न पर पुन: विचार किया गया था और **विरसा सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित विनिश्चयाधार का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "6. इस बात को मान लेने का कोई औचित्य नहीं है कि यदि किसी व्यक्ति के किसी महत्वपूर्ण अंग पर एकमात्र प्रहार करने से उसकी मृत्यु हो जाती है, तो वह अपराध सदैव संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन दंडनीय ऐसा मानव वध ही माना जाएगा जो हत्या की कोटि में नहीं आता । यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के सिर पर जानबूझकर किसी भारी लकड़ी के डंडे से या लोहे की छड़ से या यहां तक कि लाठी से ऐसा प्रहार करता है जिससे उसकी खोपड़ी का अस्थिभंग हो जाता है, तो जब तक ऐसी उपधारणा को नकारने के लिए कोई अन्य परिस्थिति मौजूद न हो, यह समझा जाएगा कि उसने उस व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए भी अथवा ऐसी शारीरिक क्षति पहुंचाने के आशय से ही प्रहार किया था जो उसकी मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी । किंतु सारा दारोमदार मृत्यु कारित करने के आशय पर निर्भर करता है और मामला या तो पहले खंड या तीसरे खंड के अंतर्गत आ सकेगा । उसका आशय कैसा था इसका पता इस बात से लगाया जाना चाहिए कि उसने जिस आयुध का प्रयोग किया, वह किस प्रकार का था या शरीर के किस अंग पर प्रहार किया, प्रहार करते समय कितनी ताकत का प्रयोग किया और वे परिस्थितियां कैसी थीं जिनके कारण उसकी मृत्यु हुई ।"

जगरूप सिंह (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के पूर्वोक्त विनिश्चय का अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा जोरदार रूप से अवलंब लिया गया ।

46. तथापि, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने **जगरूप सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में ऊपर निर्दिष्ट पैरा 6 में की गई मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेना नहीं चाहा । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उन मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया जिनका हम इसमें इसके पश्चात् किंतु **जगरूप सिंह** (उपरोक्त) वाले

मामले में की कुछ तथ्यात्मक पृष्ठभूमि देने के पश्चात् उल्लेख करेंगे । दुर्भाग्यपूर्ण सायंकाल में, तेज कौर का विवाह संपन्न हुआ था । उसके थोड़ी देर के पश्चात् अपीलार्थी जगरूप सिंह जिसके हाथ में गंधाला था, उसका भाई बिल्लौर सिंह, जिसके हाथ में गंडासा था और जरनैल सिंह और वरियम सिंह जिनके हाथों में लाठी थी, अचानक वहां पहुंचे और मृतक चंदन सिंह और तीन प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों गुरुदेव सिंह, अभि. सा. 10, सुखदेव सिंह, अभि. सा. 11 और मक्खन सिंह, अभि. सा. 12 पर मिलजुलकर प्रहार किया । मृतक और तीनों प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों को ग्रामीण चिकित्सालय, रोड़ी ले जाया गया जहां 6.00 बजे अपराह्न में डा. बिश्नोई, अभि. सा. 3 द्वारा उनका परीक्षण किया गया । परीक्षण करने पर डा. बिश्नोई ने मृतक की गरदन के पिछले दाएं भाग में 9 सें. मी. × 1½ सें. मी. × हड्डी की गहराई तक कटा हुआ घाव पाया जो कपाल के दाएं छोर से 9 सें. मी. दूर था ; घाव के किनारे लाल और कटे-फटे थे और स्पर्श करने पर उनमें से रक्तस्राव होता था । घाव की दिशा अग्र-पश्चवर्ती थी । मृतक की क्षतियों के कारण मृत्यु हो गई । डाक्टर, जिसने मृतक के शव की शव-परीक्षा की थी, ने विचारण न्यायालय के समक्ष अभिसाक्ष्य दिया कि मृतक की मृत्यु सिर में चोट लगने पर मस्तिष्क के दब जाने के कारण हुई थी जो कि मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी । इस मामले की पृष्ठभूमि में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :–

> "14. ....हमारी राय में, उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि यह काफी अधिसंभाव्य है कि अपीलार्थी जगरूप सिंह भी सगोत्रीय होने के नाते विवाह में सम्मिलित हुआ हो किंतु क्षणिक आवेश में ऐसी कोई बात हो गई जिसके कारण जगरूप सिंह ने मृतक चंदन सिंह के शरीर पर ऐसी क्षति कारित की जिससे उसकी मृत्यु हो गई, संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड को लागू करके स्पष्ट रूप से गलती की है । <u>इस निष्कर्ष के आधार पर कि अपीलार्थी ने जब अचानक हुई लड़ाई में पूर्व-चिंतन के बिना क्षणिक आवेश में मृतक के सिर पर गंधाले के कुंद भाग की ओर से, यह मामला धारा 300 के अपवाद सं. 4 के अंतर्गत आता है । इस बात की ओर संकेत नहीं किया गया है कि अपीलार्थी ने स्थिति का असम्यक् फायदा उठाया था या एक क्रूर या अप्रायिक रीति में कार्य किया था । इस प्रकार, अपवाद</u>

सं. 4 की सभी अपेक्षाएं स्पष्ट रूप से पूरी हो जाती हैं । ऐसी स्थिति में संहिता की धारा 302 के अधीन अपीलार्थी जगरूप सिंह की दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

हमने इस न्यायालय द्वारा की गई पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियों में ऐसा कुछ पाया है जिससे, हमारी राय में, कुछ भ्रम उत्पन्न होता है । **जगरूप सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले के अतिरिक्त इस न्यायालय के बहुत सारे अन्य विनिश्चयों में भी हमें ऐसी मताभिव्यक्तियां देखने को मिली हैं । हम जो रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं वह यह है कि **जगरूप सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में यद्यपि इस न्यायालय ने दोषसिद्धि को धारा 302 से धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित कर दिया था, किंतु न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 का आश्रय लिया । प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि को धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित करने के प्रयोजन के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता थी । हम ऐसा इसलिए कह रहे हैं क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के दोनों भागों के बीच स्पष्ट अंतर है । पहले भाग के अधीन हत्या के अपराध को पहले सिद्ध किया जाता है और अभियुक्त को फिर भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवादों में से किसी एक का फायदा दिया जाता है, जबकि दूसरे भाग के अधीन हत्या के अपराध को कतई साबित नहीं किया जाता है । इसलिए अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के दूसरे भाग के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी अभिनिर्धारित करने के प्रयोजन के लिए अभियुक्त को अपने मामले को भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवादों में से किसी एक के भीतर लाने की आवश्यकता नहीं है ।

47. **जवाहर लाल** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में भी अभियुक्त ने मृतक पर एक चाकू से उसकी छाती के दाई तरफ सामने प्रहार किया था और शव-परीक्षा रिपोर्ट के अनुसार क्षतियां मृत्यु कारित

---

[1] (1983) 4 एस. सी. सी. 159.

करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त पाई गई थीं । इस न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि अभियुक्त पर यह ज्ञान होना अभ्यारोपित किया जा सकता है कि उसके द्‌वारा ऐसी क्षति कारित करना संभाव्य था जिससे मृत्यु कारित हो जाने की संभावना है । उक्त निर्णय के सुसंगत पैराओं को नीचे उद्धृत किया जाता है :–

> "17. ...... जगरूप सिंह **बनाम** हरियाणा राज्य (1981 क्रि. ला जर्नल 1136) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए हमें भी इस प्रश्न का अधिक विस्तार से विवेचन नहीं करना चाहिए । उस मामले में साक्ष्य का उल्लेख करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी ने मृतक के सिर पर गंधेले के कुंद भाग की ओर से एक प्रहार किया था और यह क्षति घातक साबित हुई । न्यायालय फिर अपराध की प्रकृति के बारे में परीक्षा करने के लिए अग्रसर हुआ क्योंकि उस मामले में अपीलार्थी को धारा 302 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया था । निस्संदेह, इस न्यायालय ने यह कहा कि इस बात को मान लेने का कोई औचित्य नहीं है कि यदि किसी व्यक्ति के किसी महत्वपूर्ण अंग पर एकमात्र प्रहार करने से उसकी मृत्यु हो जाती है, तो वह अपराध सदैव संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन दंडनीय ऐसा मानव वध ही माना जाएगा जो हत्या की कोटि में नहीं आता ।
>
> किंतु सारा दारोमदार मृत्यु कारित करने के आशय पर निर्भर करता है और मामला या तो पहले खंड या तीसरे खंड के अंतर्गत आ सकेगा । उसका आशय क्या था इसका पता इस बात से लगाया जाना चाहिए कि उसने जिस आयुध का प्रयोग किया वह किस प्रकार का था या शरीर के किस अंग पर प्रहार किया था, प्रहार करते समय कितनी ताकत का प्रयोग किया था और वे परिस्थितियां क्या थीं जिनके कारण उसकी मृत्यु हुई ।
>
> 18. हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि जगरूप सिंह वाले मामले में के विनिश्चय के बाद में रणधीर सिंह **उर्फ** धीरे **बनाम** पंजाब राज्य, जिसका विनिश्चय तारीख 18 सितंबर, 1981 को किया गया था और कुलवंत राय **बनाम** पंजाब राज्य, जिसका

विनिश्चय तारीख 7 अगस्त, 1981 को किया गया था (1981 की दांडिक अपील सं. 630) वाले मामलों में अनुसरण किया गया था ।

19. इस कसौटी को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह राय है कि प्रथम अपीलार्थी द्वारा किया गया अपराध धारा 300 के तीसरे खंड के पैरा 3 के अंतर्गत नहीं आएगा और इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि को कायम नहीं रखा जा सकता ।

20. फिर प्रथम अपीलार्थी द्वारा किया गया अपराध क्या है ? घटना के समय पर प्रथम अपीलार्थी की आयु, प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति, वे परिस्थितियां जिनमें एक ही प्रहार किया गया था, दिन का वह समय जब घटना घटी थी और अन्य संपूर्ण परिस्थितियों अर्थात् पक्षकारों के बीच पूर्ववर्ती छुट-पुट विवाद को देखते हुए हमारी यह राय है कि प्रथम अपीलार्थी पर यह ज्ञान होने का अभ्यारोपण किया जा सकता है कि उसके द्वारा ऐसी क्षति कारित करना संभाव्य था जिससे मृत्यु होने की संभावना थी । तद्नुसार, यह दर्शित किया गया है कि प्रथम अपीलार्थी ने भारतीय दंड संहिता की धारा 304, भाग 2 के अधीन अपराध किया है और उसे इसके लिए अवश्य दोषसिद्ध किया जाना चाहिए और जुर्माने के दंडादेश को कायम रखते हुए पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है ।"

48. **कैमिलो वाज़** बनाम **गोवा राज्य**[1] वाले मामले में अभियुक्त ने मृतक पर एक पूर्व-चिंतित गुटीय-संघर्ष के दौरान एक डंडे से प्रहार किया था जिसके परिणामस्वरूप विपदग्रस्त की मृत्यु हो गई थी । विचारण न्यायालय और बंबई उच्च न्यायालय दोनों ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया । तथापि, इस न्यायालय ने दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन परिवर्तित कर दिया और यह मत व्यक्त किया (एस. सी. सी. पृ. 9, पैरा 14) :–

"14. .... जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति पर शरीर के किसी महत्वपूर्ण अंग पर डंडे से इतनी ताकत से प्रहार करता है कि जिस व्यक्ति पर प्रहार किया जाता है उसकी मृत्यु हो जाती है, तो

[1] (2000) 9 एस. सी. सी. 1 = 2000 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 1128.

अभियुक्त पर इसका ज्ञान होने का अभ्यारोपण किया जाना चाहिए । उस स्थिति में मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अंतर्गत आएगा जैसा कि वर्तमान मामले में है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

49. **जय प्रकाश** बनाम **राज्य (दिल्ली प्रशासन)**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने विभिन्न विनिश्चयों का विशिष्ट रूप से, **विरसा सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक पुनर्विलोकन करने के पश्चात्, निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला :–

"18. इन सभी मामलों में एक ही क्षति प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त पाई गई थी । उच्चतम न्यायालय ने अचानक झगड़ा होना, परस्पर गुथम-गुथा, जैसा कि ऊपर बताया गया है, जैसी परिस्थितियों पर केवल इस मानसिक दशा का अवधारण करने के लिए विचार किया अर्थात् क्या अभियुक्त के मामले में ऐसी विशिष्ट क्षति कारित करने का आशय था या नहीं अर्थात् उसकी अभिव्यक्त रूप से ऐसी इच्छा थी कि उस कृत्य के परिणामस्वरूप वही क्षति कारित होनी चाहिए । इन समस्त मामलों में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वही विशिष्ट क्षति कारित करने का आशय नहीं था क्योंकि उन परिस्थितियों में अभियुक्त इन बातों से अवगत नहीं हो सकता था अर्थात् उसे केवल परिणामों की जानकारी हो सकती थी । जिन परिस्थितियों में अपीलार्थी ने क्षति पहुंचाई, उनसे यह अनुभव किया जाता है अथवा कम से कम यह संदेह उत्पन्न होता है कि उसकी समस्त मानसिक स्थितियां ऐसा कोई आशय नहीं बना सकती थी कि कोई विशिष्ट परिणाम निकल सके । हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि हमारा संबंध मृत्यु कारित करने के आशय से नहीं है क्योंकि ऐसे मामले में जब तक कि अपवाद का आश्रय न लिया जाए यह केवल हत्या का मामला होगा । हमारा संबंध तीसरे खंड के अधीन वह विशिष्ट क्षति पहुंचाए जाने के आशय से है जो व्यक्तिपरक जांच का विषय है और जब एक बार यह आशय सिद्ध कर दिया जाता है और जब आशयित क्षति व्यक्तिपरक रूप से प्रकृति के मामूली अनुक्रम

[1] (1991) 2 एस. सी. सी. 32.

में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त बताई जाती है तभी तीसरा खंड लागू होता है और यह हत्या का मामला होगा जब तक कि धारा 300 के अपवादों में से कोई अपवाद लागू न हो । दूसरी ओर, यदि आशय का यह तत्व सिद्ध नहीं कर दिया जाता या यदि इस संबंध में कोई युक्तियुक्त संदेह उत्पन्न नहीं होता तो यह अर्थ लगाना युक्तियुक्त होगा कि तीसरा खंड लागू नहीं होता और अभियुक्त को यह ज्ञान था कि क्षति पहुंचाने से वह मृत्यु कारित कर सकता है और ऐसी दशा में वह भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय मानव वध का अपराध होगा ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

50. **राजवंत सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के सुसंगत खंडों का उल्लेख करने के पश्चात् निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की गई हैं :–

"10. ...... इस प्रकार मानसिक दशा दो तत्वों से मिलकर बनती है (क) आशयपूर्वक क्षति कारित करना और (ख) जिस क्षति के बारे में अपराधी को पहले से पता था कि इससे मृत्यु कारित हो जाएगी .....।

11. .... तीसरे खंड को लागू करने के लिए सर्वप्रथम यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि क्षति कारित की गई है, आगे वस्तुपरक रूप से यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि प्रकृति के मामूली अनुक्रम में क्षति की प्रकृति क्या है । यदि क्षति मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त पाई जाती है, तो एक कसौटी का समाधान हो जाता है । इसके पश्चात् यह साबित किया जाना चाहिए कि वही क्षति पहुंचाने का आशय था न कि किसी प्रकार की अन्य क्षति और वह क्षति दुर्घटनावश या अनाशयित नहीं थी । यदि अपराधी के विरुद्ध यह भी अभिनिर्धारित किया जाता है तो हत्या का अपराध सिद्ध हो जाता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

51. **अंदा** बनाम **राजस्थान राज्य**[1] वाले मामले में दोनों सुसंगत धाराओं क्रमश: 299 और 300 का शानदार रूप से विश्लेषण किया गया है और सुसंगत मताभिव्यक्तियां पृष्ठ 151 पर पैरा 7 में की गई हैं । इससे पूर्व कि हम उन मताभिव्यक्तियों का उल्लेख करें, हम पहले की गई कतिपय मताभिव्यक्तियों का उल्लेख करेंगे । वे निम्नलिखित हैं :–

> "आपराधिक मानव वध के अपराध में कोई कृत्य (अवैध लोप भी इस पद में सम्मिलित हैं) – (क) मृत्यु कारित करने के आशय से, या (ख) ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय से जिससे मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है, या (ग) इस ज्ञान से कि उस कृत्य से मृत्यु कारित हो जाना संभाव्य है, किया जाना अंतर्वलित होता है । यदि इन तीनों परिस्थितियों में से किसी में मृत्यु कारित की जाती है, तो आपराधिक मानव वध का अपराध किया जाना कहा जाता है .....। इस धारा में आशय और ज्ञान संघटक एक सकारात्मक मानसिक दशा के विद्‌यमान होने की अभिधारणा करते हैं और यह मानसिक दशा अपराध के लिए आवश्यक विशेष आपराधिक मन:स्थिति होती है । प्रथम दो शर्तों में दोषपूर्ण आशय अपहानि कारित किए गए व्यक्ति की आशयित मृत्यु या साशय ऐसी क्षति कारित करना जिससे उसकी मृत्यु हो जाना संभाव्य हो, अनुध्यात है । धारा 300 हमें बताती है कि कब अपराध हत्या का है और कब यह हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध है । धारा 300 उन परिस्थितियों को उपवर्णित करते हुए आरंभ होती है कि कब आपराधिक मानव वध हत्या में बदल जाता है जो धारा 302 के अधीन दंडनीय है और इसी धारा में दिए गए अपवाद हमें बताते हैं कि कब अपराध हत्या का नहीं है अपितु धारा 304 के अधीन दंडनीय हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध है । हत्या मानव वध का एक गुरुत्तर रूप है । चार शर्तों में से एक विद्‌यमान होने पर मानव वध हत्या में बदल जाता है जबकि विशेष अपवाद हत्या के अपराध को कम करके पुन: हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध कर देते हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

---

[1] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 148.

52. अब हम पृष्ठ 151 पर पैरा 10 में की गई सुसंगत मताभिव्यक्तियों का उल्लेख करेंगे । वे निम्नलिखित हैं :–

> "तीसरा खंड मामले पर एक साधारण दृष्टिकोण से विचार करता है । इसमें ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने के आशय का उल्लेख है जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो । यहां जोर क्षति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त होने पर है । यह पर्याप्तता प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु की उच्च अधिसंभाव्यता का होना है और जब अधिसंभाव्यता विद्यमान होती है तथा मृत्यु हो जाती है और ऐसी क्षति कारित करने का आशय हो, तो अपराध हत्या का है । कभी-कभी प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति, कभी-कभी शरीर का वह अंग जिस पर क्षति कारित की गई है, और कभी-कभी दोनों सुसंगत होते हैं । अवधारण की जाने वाली बात वह आशयित क्षति है जो मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए अर्थात् मृत्यु की अधिसंभाव्यता अत्यधिक न हो, तो अपराध हत्या के अंतर्गत नहीं आता है अपितु हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध या इससे कुछ कम के भीतर आता है । तीसरे खंड से संलग्न दृष्टांत इस प्रकार है :–
>
> > '**य** को तलवार या लाठी से ऐसा घाव **क** साशय करता है, जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में किसी मनुष्य की मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है । परिणामस्वरूप **य** की मृत्यु कारित हो जाती है, यहां **क** हत्या का दोषी है, यद्यपि उसका आशय **य** की मृत्यु कारित करने का न रहा हो ।' प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए साशय क्षति की पर्याप्तता मृत्यु कारित करने के आशय को ध्यान में रखे बिना इस खंड का सार है । यहां पुनः, अपवाद अपराध को हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध में ला सकते हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

53. **विनीत कुमार चौहान** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस

---

[1] (2007) 14 एस. सी. सी. 660.

न्यायालय ने उल्लेख किया कि 'हत्या' और 'हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध' के बीच शास्त्रीय विभेद को इस न्यायालय द्वारा **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **रायवरपू पुन्नय्या** (उपुर्यक्त) वाले मामले में स्पष्ट रूप से बताया गया है, जिसमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :–

> "......यह कि संहिता की धारा 299 और 300 के निर्वचन और लागू होने के लिए सबसे सुरक्षित दृष्टिकोण उक्त धाराओं के विभिन्न खंडों में प्रयुक्त मुख्य शब्दों को ध्यान में रखा जाना है । संहिता की धारा 299 और 300 के पत्येक खंड की सूक्ष्म रूप से तुलना करते हुए और विरसा सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 465 = 1958 क्रि. ला जर्नल 818) और राजवंत सिंह **बनाम** केरल राज्य (ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1874 = 1966 क्रि. लॉ. जर्नल 1509) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चयों से समर्थन लेते हुए न्यायमूर्ति आर. एस. सरकारिया ने न्यायालय का निर्णय सुनाते हुए दोनों अपराधों के बीच सुभिन्नता के बिंदुओं को स्पष्ट रूप से उजागर किया, जिनको बारंबार दोहराया गया है । ऐसा करते हुए न्यायालय ने कहा कि जब कभी किसी न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करना होता है कि क्या कोई अपराध मामले के तथ्यों को ध्यान करते हुए हत्या है या हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध, तो उसके लिए इस समस्या पर तीन प्रक्रमों पर विचार करना सुविधाजनक होगा । प्रथम प्रक्रम पर विचारित किए जाने वाला प्रश्न यह होगा कि क्या अभियुक्त ने ऐसा कोई कार्य किया है जिसके द्वारा उसने किसी अन्य व्यक्ति की मृत्यु कारित कर दी है । अभियुक्त के कार्य और मृत्यु के बीच ऐसे आकस्मिक संबंध का सबूत इस बात पर विचार करने के लिए द्वितीय प्रक्रम की ओर ले जाता है कि क्या अभियुक्त का वह कार्य धारा 299 में यथा परिभाषित आपराधिक मानव वध की कोटि में आता है । यदि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो, तो वह अपराध हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध होगा जो कि इस बात पर निर्भर करते हुए कि क्या क्रमशः धारा 299 का खंड (2) या खंड (3) लागू होता है, धारा 304 के प्रथम या द्वितीय भाग के अधीन दंडनीय होगा । यदि यह

प्रश्न सकारात्मक पाया जाता है किंतु मामला धारा 300 में प्रगणित अपवादों में किसी के अधीन आ जाता है तो अपराध तब भी हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध होगा जो कि दंड संहिता की धारा 304 के प्रथम भाग के अधीन दंडनीय होगा । तथापि, यह स्पष्ट किया गया कि यह केवल न्यायालय के कार्य को सुकर बनाने के लिए व्यापक मार्गदर्शक बातें हैं न कि सुदृढ आज्ञापक बातें ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

54. **थोलन** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में अभियुक्त मृतक के मकान के सामने खड़ा हुआ और ऐसे कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध गंदी भाषा का प्रयोग किया जिनका मृतक से संबंध नहीं था । मृतक अपने मकान से बाहर आया और अभियुक्त से कहा कि उसे महिलाओं के सामने अभद्र और गंदी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए और उसे चले जाने के लिए कहा । अभियुक्त ने मृतक से पूछा कि वह किस अधिकार से उसे इस स्थान से चले जाने के लिए कह रहा है । आगे हुई कहा-सुनी में अभियुक्त ने चाकू से एक प्रहार किया जो मृतक की छाती पर (दाईं ओर) लगा और घातक साबित हुआ । यह न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अभियुक्त को धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता था अपितु वह धारा 304 भाग 2 के अधीन दोषी था । इस न्यायालय ने जिन परिस्थितियों पर विचार किया, वे थीं – (i) अभियुक्त और मृतक के बीच कोई संबंध नहीं था और दुर्घटना के समय पर मृतक की मौजूदगी पूरी तरह से आकस्मिक थी ; (ii) मृतक के साथ कहा-सुनी तत्क्षण हुई थी और अभियुक्त ने मृतक द्वारा उसे उस स्थान से चले जाने के लिए कहकर उकसाने के कारण केवल एक प्रहार किया था ; (iii) अभियुक्त का अपेक्षित आशय होना नहीं समझा जा सकता क्योंकि यह उपदर्शित करने के लिए कुछ नहीं है कि अभियुक्त का आशय छाती की दाईं तरफ प्रहार करने का था, जो घातक साबित हुआ था ।

55. **चमरू पुत्र बुधवा** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में भी परिस्थितियां लगभग समान ही थीं जिसमें दो पक्षकारों के बीच गाली-गलौच

---

[1] ए. आई. आर. 1984 एस. सी. 759.

[2] ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 652.

आरंभ हुआ और दोनों पक्षकार लाठियों से लैस थे, उन्होंने एक-दूसरे पर प्रहार किया और इस लड़ाई के दौरान अभियुक्त ने मृतक के सिर पर लाठी से ऐसा प्रहार किया जिससे उसकी खोपड़ी फट गई और उसकी मृत्यु हो गई । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अभियुक्त ने क्षणिक आवेग में केवल एक ही प्रहार किया था, यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस मामले में केवल यही कहा जा सकता है कि उसने जो प्रहार किया, वह यह जानते हुए किया था कि उससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है और इसलिए यह अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन आता है । **विल्ली (विलियम) स्लेनी** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इसी मामले की तरह ही दो पक्षों के बीच अचानक झगड़ा हुआ जिसमें गालियों का आदान-प्रदान हुआ और क्षणिक उत्तेजना में आकर सिर पर हाकी-स्टिक से एक ही प्रहार किया गया था । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपराध धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध की कोटि में आता है ।

56. **कुलवंत राय** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले मामले में अभियुक्त ने एक छुट-पुट झगड़े में किसी पूर्व-दुश्मनी या पूर्व-चिंतन के बिना छुरे से एक ही प्रहार किया था जो बाद में घातक साबित हुआ । इस न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि चूंकि कोई पूर्व-चिंतन नहीं था इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के भाग 3 को लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता है कि अभियुक्त का आशय वही विशिष्ट क्षति कारित करने का था जो अंततोगत्वा कारित की गई पाई गई थी । उस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में अभियुक्त की दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 से धारा 304 भाग 2 के अधीन परिवर्तित किया गया था और अभियुक्त को पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया था ।

57. **जगतार सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[3] वाले मामले में अभियुक्त ने क्षणिक आवेश में अभियुक्त की छाती पर चाकू से एक प्रहार किया था ।

---

[1] ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 116.

[2] (1981) 4 एस. सी. सी. 245.

[3] (1983) 2 एस. सी. सी. 342.

क्षति घातक साबित हुई । डाक्टर ने राय व्यक्त की कि क्षति मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थी । इस न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि (एस. सी. सी. पृष्ठ 344, पैरा 8) :–

> "8. ...... झगडा तुच्छ प्रकृति का था और ऐसे तुच्छ झगडे में अपीलार्थी ने चाकू जैसा आयुध निकाला और छाती पर प्रहार कर दिया । इन परिस्थितियों में, एक अनुज्ञेय निष्कर्ष यह निकलता है कि अपीलार्थी पर कम से कम यह ज्ञान होने का अभ्यारोपण किया जा सकता है कि उसके द्वारा ऐसी क्षति कारित करना संभाव्य था जिससे मृत्यु कारित होने की संभावना थी ......।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

इस न्यायालय ने अपीलार्थी की दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 से धारा 304 भाग 2 में परिवर्तित कर दिया और अभियुक्त को पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया ।

58. **हेम राज** बनाम **राज्य (दिल्ली प्रशासन)**[1] वाले मामले में अभियुक्त ने मृतक की छाती पर घोंपने की केवल एक क्षति कारित की थी । घटना स्वीकृत रूप से अचानक हुई लड़ाई में और आवेश की तीव्रता में घटी थी । डाक्टर के अनुसार क्षति प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी । इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया (एस. सी. सी. पृष्ठ 295, पैरा 14) :–

> "14. प्रश्न यह है कि क्या यह कहा जा सकता है कि अपीलार्थी ने वह विशिष्ट क्षति मृतक की मृत्यु कारित करने के आशय से कारित की थी । जैसा कि संपूर्ण साबित तथ्यों और परिस्थितियों से दर्शित होता है कि घटना एक अचानक झगडे में पूर्व-चिंतन के बिना अत्यधिक अप्रत्याशित रूप से घटी थी जिसके दौरान अपीलार्थी ने केवल एक क्षति कारित की थी, इसलिए उस पर मृतक की मृत्यु कारित करने का आशय या वह विशिष्ट घातक क्षति कारित करने का आशय अभ्यारोपित नहीं किया जा सकता ; किंतु उस पर यह ज्ञान होना अभ्यारोपित किया जा सकता है कि ऐसी क्षति कारित होना संभाव्य था

---

[1] (1990) सप्ली. एस. सी. सी. 291.

> जिससे मृत्यु कारित होने की संभावना थी । क्योंकि ऐसे किसी सकारात्मक सबूत के अभाव में कि अपीलार्थी ने मृतक की मृत्यु कारित करने के आशय से मृत्यु कारित की थी या साशय वह विशिष्ट क्षति कारित की थी जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी, न तो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 का खंड 1 और न ही खंड 3 लागू होगा ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

इस न्यायालय ने धारा 300 के अधीन दोषसिद्धि को अपास्त करते हुए अभियुक्त को धारा 304 भाग 2 के अधीन दोषसिद्ध किया और उसे सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया ।

59. हम अंत में **पुलिचेर्ला नागराजू** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को निर्दिष्ट कर सकते हैं, जिसमें इस न्यायालय ने यह पता लगाने के लिए कि क्या अभियुक्त का मृत्यु कारित करने का कोई आशय था या नहीं, कुछ सुसंगत परिस्थितियों को प्रगणित किया था । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया (एस. सी. सी. पृष्ठ 457-58, पैरा 29) :–

> "29. अत: न्यायालय को आशय के महत्वपूर्ण प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सावधानी और सतर्कतापूर्वक अग्रसर होना चाहिए क्योंकि इससे इस बात का विनिश्चय होगा कि क्या मामला धारा 302 अथवा धारा 304 भाग 1 या 304 भाग 2 के अधीन आता है । बहुत सारे तुच्छ या महत्वहीन विषय – कोई फल तोड़ लेना, आवारा पशु, बालकों का झगड़ा, कोई अपमानजनक शब्द बोलना या यहां तक कि आपत्तिजनक दृष्टि से देखना झगड़े और सामूहिक संघर्ष का कारण बन जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप हत्याएं हो जाती हैं । ऐसे मामलों में प्रायिक हेतु जैसे प्रतिशोध, लालच, ईर्ष्या या संदेह का पूरी तरह अभाव हो सकता है । हो सकता है कोई आशय भी न रहा हो । हो सकता है कोई पूर्व-चिंतन भी न हो । वास्तव में, यहां तक कि सदोषता भी न हो । इस सिलसिले के दूसरे छोर पर, हत्या के ऐसे

---

[1] (2006) 11 एस. सी. सी. 444.

मामले हो सकते हैं जहां अभियुक्त ऐसा मामला प्रस्तुत करने का प्रयत्न करके हत्या की शास्ति से बचने का प्रयत्न कर सकता है कि मृत्यु कारित करने का कोई आशय नहीं था । यह सुनिश्चित करने का कार्य न्यायालयों का है कि धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या के मामले धारा 304 भाग 1/भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराधों में संपरिवर्तित न हों, या हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध के मामले धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या के रूप में न समझे जाएं । मृत्यु कारित करने के आशय का पता साधारणतया, अन्य बातों के साथ-साथ, निम्नलिखित कुछेक या कई परिस्थितियों के संयोजन से लगाया जा सकता है– (i) प्रयुक्त आयुध की प्रकृति ; (ii) क्या अभियुक्त आयुध लिए हुए था या घटनास्थल से उठाया गया था ; (iii) क्या प्रहार शरीर के महत्वपूर्ण भाग पर किया गया है ; (iv) क्षति कारित करने में प्रयोग किए गए बल की मात्रा ; (v) क्या कृत्य अचानक झगडे या अचानक लडाई या खुली लडाई के अनुक्रम में किया गया था ; (vi) क्या घटना अचानक घटी थी या क्या कोई पूर्व-चिंतन था ;

(vii) क्या कोई पहले से दुश्मनी थी या मृतक एक अजनबी था ; (viii) क्या कोई गंभीर और अचानक प्रकोपन था, और यदि ऐसा था तो ऐसे प्रकोपन का कारण क्या था ; (ix) क्या यह आवेश की तीव्रता में किया गया था ; (x) क्या क्षति कारित करने वाले व्यक्ति ने असम्यक् लाभ उठाया था या किसी क्रूरतापूर्ण और अप्रायिक रीति में कार्य किया गया था ; (xi) क्या अभियुक्त ने एक ही प्रहार किया था या कई प्रहार किए थे । परिस्थितियों की उपरोक्त सूची, निस्संदेह, नि:शेष नहीं है और अलग-अलग मामलों के संदर्भ में कई अन्य विशेष परिस्थितियां हो सकती हैं जो आशय के प्रश्न पर रोशनी डाल सकती हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

60. पूर्वोक्त चर्चा से दृष्टिगोचर विधि के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों का सारांश इस प्रकार है :–

(1) जब न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करना होता है कि

अभियुक्त द्‌वारा किए गए अपराध को क्या कहा जा सकता है, सही कसौटी उस कृत्य को करने के लिए अभियुक्त के आशय या ज्ञान का पता लगाना है । यदि आशय या ज्ञान ऐसा था जो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (1) से (4) में वर्णित है, तो वह कृत्य हत्या का होगा भले ही केवल एक ही क्षति कारित की गई हो । उदाहरण के लिए – 'क' हाथ और पैर से बंधा है । 'ख' आता है और अपनी रिवाल्वर 'क' के सिर पर रखकर 'क' को उसके सिर में गोली मारकर तुरंत मार देता है । यहां, यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि 'क' को गोली मारने में 'ख' का आशय उसे जान से मारने का था, यद्‌यपि केवल एक ही क्षति कारित की गई थी । अत: मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (1) के अंतर्गत आने वाला हत्या का होगा । एक दूसरा दृष्टांत लेते हैं, 'ख' अपने दुश्मन 'क' के कमरे में उस समय चुपके से घुस जाता है जब 'क' अपने पलंग पर सोया है । 'क' की बाईं छाती का लक्ष्य करके 'ख' बलपूर्वक 'क' की बाईं छाती में एक तलवार घोंप देता है और भाग जाता है । 'क' की उसके पश्चात् शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है । 'क' को पहुंची क्षति को मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त होना पाया जाता है । वहां यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि 'ख' ने कारित की गई क्षति साशय कारित की थी और वह क्षति वस्तुपरक रूप से मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थी । इससे 'ख' का कृत्य भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (3) के भीतर आएगा और उसे हत्या के अपराध का दोषी ठहराएगा यद्‌यपि केवल एक ही क्षति कारित की गई थी ।

(2) यहां तक कि जब अभियुक्त का आशय या ज्ञान भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (1) से (4) के अंतर्गत आ सकता हो, अभियुक्त के मामले में इस धारा में प्रगणित पांच अपवादों में से कोई अपवाद लागू होने पर अभियुक्त का कृत्य, जो अन्यथा हत्या होता, हत्या के क्षेत्र से बाहर हो जाएगा । मामला इन अपवादों में से किसी के अंतर्गत आने की दशा में अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के भाग 1 के अंतर्गत हत्या की कोटि में

न आने वाला आपराधिक मानव वध का होगा, यदि अभियुक्त का मामला ऐसा है जो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (1) से (3) के अंतर्गत आता है । यदि मामला ऐसा है जो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (4) के अंतर्गत आता है, तो यह धारा 304 के भाग 2 के अधीन अपराध का होगा । पुन: अभियुक्त का आशय या ज्ञान ऐसा हो सकता है कि केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 299 का दूसरा या तीसरा भाग लागू होता हो न कि भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंडों में से कोई खंड । उस स्थिति में भी, अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के अधीन हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध का होगा । यदि मामला धारा 299 के दूसरे भाग के अंतर्गत आता है, तो यह उस धारा के भाग 1 के अधीन अपराध होगा, जबकि यदि मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के तीसरे भाग के अंतर्गत आता है, तो यह धारा 304 के दूसरे भाग के अधीन अपराध होगा ।

(3) दूसरे शब्दों में, यदि अभियुक्त व्यक्ति का कृत्य भारतीय दंड संहिता की धारा 299 में यथा वर्णित आपराधिक मानव वध के मामलों के पहले दो खंडों के अंतर्गत आता है, तो यह धारा 304 के पहले भाग के अधीन दंडनीय है । तथापि, यदि यह तीसरे खंड के अंतर्गत आता है, तो यह धारा 304 के दूसरे भाग के अधीन दंडनीय है । इसलिए वस्तुत:, इस धारा का पहला भाग तब लागू होगा जब 'दोषपूर्ण आशय' हो जबकि दूसरा भाग तब लागू होगा जब ऐसा कोई आशय न हो किंतु 'दोषपूर्ण ज्ञान' हो ।

(4) यदि एक ही क्षति कारित की गई है और यदि वह विशिष्ट क्षति पहुंचाने का आशय था और वस्तुपरक रूप से वह क्षति मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थी, तो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड की अपेक्षाएं पूर्ण हो जाती हैं और अपराध हत्या का होगा ।

(5) भारतीय दंड संहिता की धारा 304 मामलों के निम्नलिखित वर्गों को लागू होगी – (i) जब मामला धारा 300 के खंडों में से किसी एक या अन्य के अंतर्गत आता है किंतु यह इस धारा के अपवादों में से किसी एक के अंतर्गत आता हो, (ii) जब कारित की गई क्षति की

संभाव्यता की मात्रा इतनी अधिक न हो जो 'मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त' अभिव्यक्ति के अंतर्गत आती हो अपितु इसकी संभाव्यता की मात्रा कमतर हो जिसे साधारणतया ऐसी क्षति के रूप में कहा जाता है जिससे 'मृत्यु कारित होना संभाव्य है' और मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के खंड (2) के अंतर्गत नहीं आता है, (iii) जब कृत्य इस ज्ञान से किया गया हो कि मृत्यु हो जाना संभाव्य है किंतु मृत्यु कारित करने के आशय के बिना या ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना जिससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है ।

इसे और अधिक संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से कहा जाए, तो भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के दोनों भागों में फर्क यह है कि पहले भाग के अधीन अपराध हत्या का होना पहले सिद्ध किया जाता है और फिर अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवादों में से किसी एक अपवाद का फायदा दिया जाता है, जबकि दूसरे भाग के अधीन अपराध हत्या का होना कतई सिद्ध नहीं किया जाता है । इसलिए अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के दूसरे भाग के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी अभिनिर्धारित करने के प्रयोजन के लिए अभियुक्त को अपना मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवादों में से किसी के भीतर लाने की आवश्यकता नहीं है ।

(6) 'संभाव्य है' शब्द से अधिसंभाव्य अभिप्रेत है और यह अधिक 'संभव' से सुभिन्न है । जब घटना घटने की संभावना इसके न घटने की अपेक्षा कहीं अधिक हों, तब हम कह सकते हैं कि 'अधिसंभाव्यत: घटित' हुई होगी । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए न्यायालय को स्वयं को अभियुक्त की स्थिति में रखना चाहिए और फिर विचार करना चाहिए कि क्या अभियुक्त को यह ज्ञान था कि उस कृत्य से उसके द्वारा मृत्यु कारित किया जाना संभाव्य है ।

(7) भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन आरोप पर विचार करते हुए आपराधिक मानव वध (भारतीय दंड संहिता की धारा 299) और हत्या (भारतीय दंड संहिता की धारा 300) के बीच विभेद को सदैव सावधानीपूर्वक ध्यान में रखना चाहिए । विधिविरुद्ध मानव वधों

के प्रवर्ग में हत्या की कोटि में आने वाले आपराधिक मानव वध और हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध दोनों के मामले ही मामले आएंगे । आपराधिक मानव वध हत्या नहीं है जब मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के पांच अपवादों के भीतर लाया जाता है । किंतु भले ही उक्त पांच अपवादों में से किसी का भी अभिवाक् न किया गया हो या अभिलेख पर के साक्ष्य के आधार पर प्रथम दृष्टया सिद्ध न किया गया हो, फिर भी विधि के अधीन अभियोजन पक्ष द्वारा मामले को हत्या का आरोप सिद्ध करने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के चार खंडों में से किसी के अधीन लाया जाना चाहिए । यदि अभियोजन पक्ष भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के चार खंडों अर्थात् पहले से चौथे खंड में से किसी खंड को साबित करने के इस भार का निर्वहन करने में असफल रहता है, तो हत्या का आरोप सिद्ध नहीं होगा और मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 299 के अधीन यथा वर्णित हत्या की कोटि में न आने वाले आपराधिक मानव वध का हो सकेगा ।

(8) न्यायालय को अवश्य आपराधिक मन:स्थिति के प्रश्न पर विचार करना चाहिए । यदि धारा 300 का तीसरा खंड लागू किया जाना है, तो हमलावर का आशय अवश्य मृतक को पहुंची विशिष्ट क्षति को कारित करने का होना चाहिए । इस संघटक को विरले ही प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकता है । महत्वपूर्ण रूप से, यह मामले की साबित की गई परिस्थितियों से निकाले जाने वाले निष्कर्ष का विषय है । न्यायालय को आवश्यक रूप से प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति, शरीर के क्षतिग्रस्त भाग, क्षति की व्याप्ति, क्षति कारित करने में प्रयुक्त बल की मात्रा, आक्रमण की रीति, आक्रमण से पूर्व की और विद्यमान परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए ।

(9) जान से मारने का आशय ही केवल वह आशय नहीं है जो आपराधिक मानव वध को हत्या बनाता है । ऐसी क्षति या क्षतियां, जो प्रकृति के मामूली अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो, कारित करने का आशय भी आपराधिक मानव वध को हत्या बनाता है यदि वास्तव में मृत्यु कारित हुई है और ऐसी क्षति या क्षतियां कारित करने के आशय का निष्कर्ष उस कृत्य या कृत्यों से निकाला जाना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप क्षति या क्षतियां कारित हुई हैं ।

(10) जब अभियुक्त द्‌वारा पहुंचाई गई एकमात्र क्षति के परिणामस्वरूप विपदग्रस्त की मृत्यु हो जाती है, तो एक साधारण सिद्धांत के रूप में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि अभियुक्त का आशय मृत्यु कारित करने का या वह विशिष्ट क्षति कारित करने का नहीं था जिसके परिणामस्वरूप विपदग्रस्त की मृत्यु हुई । अभियुक्त का अपेक्षित दोषपूर्ण आशय था या नहीं, एक तथ्य का प्रश्न है जिसका अवधारण प्रत्येक मामले के तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिए ।

(11) जहां अभियोजन पक्ष साबित कर देता है कि अभियुक्त का आशय किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने या शारीरिक क्षति कारित करने का था और आशयित क्षति मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त है, तो भले ही उसने एक ही क्षति कारित की हो जिसके परिणामस्वरूप विपदग्रस्त की मृत्यु हो जाती है तो अपराध, जब तक कि कोई अपवाद लागू न होता हो, पूरी तरह से भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत आएगा ।

12. ऐसे किसी मामले में जहां उसके द्‌वारा केवल एक ही क्षति कारित की गई है और वह क्षति मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त है, इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कि क्या अभियुक्त का दोषपूर्ण आशय या उसको दोषपूर्ण ज्ञान था, यह तथ्य कि वह कृत्य अचानक हुई लड़ाई या झगड़े में पूर्व-चिंतन के बिना किया गया है, या यह कि परिस्थितियों में यह न्यायोचित है कि क्षति दुर्घटनावश या अनाशयित थी, या यह कि उसका आशय केवल एक साधारण क्षति कारित करने का था, इससे दोषपूर्ण ज्ञान होने का निष्कर्ष निकलेगा और अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन आने वाला अपराध होगा ।

61. हम पुन: एक बार इस मामले के तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं । घटना के दुर्भाग्यपूर्ण दिन पिता और पुत्र सवेरे-सवेरे अपने खेत में काम कर रहे थे । वे फसल का परिवहन करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने फसल की कटाई की और उस प्रयोजन के लिए उन्होंने एक लॉरी को बुलाया । लॉरी पहुंची, तथापि, मृतक ने लॉरी के ड्राइवर को विवादग्रस्त रास्ते का प्रयोग करने के लिए अनुज्ञा नहीं दी । इस कारण अपीलार्थी और मृतक के बीच

मौखिक कहा-सुनी हुई । मौखिक कहा-सुनी के कुछ समय पश्चात् अपीलार्थी ने मृतक के सिर पर आक्रामक आयुध (खरपतवार हटाने वाली कुल्हाड़ी) से एक प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी अस्पताल में मृत्यु हो गई ।

62. अभिलेख पर के संपूर्ण साक्ष्य को देखते हुए हमारे लिए यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि जब अपीलार्थी ने आक्रामक आयुध से मृतक पर हमला किया था, तब उसका आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो मृत्यु कारित करने के लिए प्रकृति के मामूली अनुक्रम में पर्याप्त थी । वर्तमान मामले में आक्रामक आयुध एक सामान्य कृषि औजार है । यदि कोई व्यक्ति पर्याप्त ताकत के साथ सिर पर खरपतवार हटाने की कुल्हाड़ी से प्रहार करता है, तो मृत्यु कारित होना लाजिमी है, जैसा कि इस मामले में है । यह सही है कि मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट में दर्शाई गई क्षतियां भित्तिकास्थि के भंग के साथ-साथ शंखास्थि का अस्थिभंग हैं । मृतक की मृत्यु प्रमस्तिष्कीय संपीड़न अर्थात् सिर में आंतरिक क्षतियों के कारण हुई थी । तथापि, विवाद्य प्रश्न है – क्या यह बात ही यह निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त है कि अपीलार्थी का आशय ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का था जो मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो । हमारा यह मत है कि अपीलार्थी पर केवल यह अभ्यारोपण किया जा सकता है कि उसे ज्ञान था कि ऐसी क्षति कारित होना संभाव्य है जिससे मृत्यु कारित हो सकती है । ऐसी परिस्थितियों में हम यह दृष्टिकोण अपनाने के लिए आनत हैं कि प्रस्तुत मामला भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के तीसरे खंड के अंतर्गत नहीं आता है ।

63. मामले को पूर्वोक्त दृष्टि से देखते हुए और विशिष्ट रूप से ऊपर स्पष्ट किए गए विधि के सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए यह अपील भागत: मंजूर की जाती है । अपीलार्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 1 के अधीन दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन परिवर्तित किया जाता है । परिवर्तित दोषसिद्धि के लिए अपीलार्थी को पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है ।

अपील भागत: मंजूर की गई ।

जस.

गतांक से आगे........

ज. न्यायिक पुनर्विलोकन और इस्लामिक विधि में मस्जिद की विशेषताएं

69. वाद संख्या 5 में प्रतिवादी संख्या 20 (अखिल भारतीय श्रीराम जन्मभूमि पुनरुद्धार समिति) की तरफ से उपस्थित विद्वान् काउंसेल श्री पी. एम. मिश्रा ने यह प्रदर्शित करने का गंभीरतापूर्वक प्रयास किया कि बाबर मस्जिद में इस्लामिक न्यायशास्त्र के अंतर्गत विधिमान्य मस्जिद के अनिवार्य लक्षणों की कमी है । उनके द्वारा किए गए निवेदन मुख्य रूप से दो पहलुओं से संबंधित हैं :-

(i) वे लक्षण जो किसी मस्जिद की प्रास्थिति, निर्माण और बनावट से संबंधित होते हैं; और

(ii) किसी विधिमान्य समर्पण के लिए अपेक्षाएं ।

इस परिप्रेक्ष्य में प्रथम भाग के निवेदन प्रस्तुत किए गए । क्या कोई विधिमान्य समर्पण था, को वाद संख्या 4 में पृथक् परिप्रेक्ष्य में संबोधित किया जाएगा । श्री मिश्रा ने दलील दी कि बाबरी मस्जिद को एक विधिमान्य मस्जिद के रूप में विचारित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह मस्जिद प्रास्थिति, बनावट और निर्माण के संबंध में आवश्यक लक्षणों से विहीन है ।

70. उच्च न्यायालय के समक्ष वाद संख्या 4 में निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए गए थे :-

वाद संख्या 4 में विवाद्यक संख्या 1 – क्या प्रश्नगत भवन, जिसे वादपत्र के साथ संलग्न रेखामान चित्र में मस्जिद के रूप में वर्णित किया गया है, मस्जिद था, जैसाकि दावा वादियों द्वारा किया गया है; यदि उत्तर सकारात्मक में है, तो;

(क) इसका निर्माण कब हुआ था और किसके द्वारा – क्या बाबर द्वारा कराया गया था, जैसाकि अभिकथन वादियों द्वारा किया गया है या मीर बाकी द्वारा, जैसाकि अभिकथन प्रतिवादी संख्या 3 द्वारा किया गया है; और

(ख) क्या भवन का निर्माण किसी अभिकथित हिंदू मंदिर के स्थल पर उसको ध्वस्त कराए जाने के पश्चात् कराया गया था,

जैसाकि अभिकथन प्रतिवादी संख्या 13 द्वारा किया गया है । यदि ऐसा है, तो इसके प्रभाव ।

विवाद्यक संख्या 19 (घ) – क्या प्रश्नगत भवन स्वीकृत स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस्लामिक विधि के अंतर्गत मस्जिद नहीं हो सकता था, क्योंकि इसमें मीनारें नहीं हैं ।

विवाद्यक संख्या 19 (ङ) – क्या प्रश्नगत भवन वादी द्वारा स्वयं दर्शित किए जाने के आधार पर कि यह भवन तीन तरफ से कब्रिस्तान द्वारा घिरा हुआ था, विधित: मस्जिद नहीं हो सकता था ।

विवाद्यक संख्या 19 (च) – क्या प्रश्नगत भवन के भीतर और बाहर स्थित खंभों में हिंदू देवताओं और देवियों की आकृतियां समाविष्ट हैं । यदि निष्कर्ष सकारात्मक में है, तो क्या इस आधार पर प्रश्नगत भवन में इस्लाम की मान्यताओं के अंतर्गत मस्जिद के लक्षण समाविष्ट नहीं हो सकते ।

71. प्रतिवादी संख्या 20 के लिखित कथन में इस प्रकथन के आधार पर यह उपबंधित है कि बाबरी मस्जिद इस्लामी न्यायशास्त्र में मस्जिद के लिए अपेक्षित लक्षणों को पूरा नहीं करती या उनका पालन नहीं करती :–

"...... (1) यदि इस विवादित मस्जिद के गुंबद का पीछे से अवलोकन किया जाए, तो यह दर्शित होगा कि किसको उस रीति में विकसित नहीं किया गया है, जिस रीति में तुर्क लोगों द्वारा 15वीं शताब्दी के दौरान विकसित किया जाता था और न ही इस मस्जिद के मेहराब उस बनावट के पाए जाते हैं । अत:, विवादित मस्जिद में कोई गुंबद नहीं है, जैसाकि सामान्यतया अन्य मस्जिदों में पाया जाता है ।

(2) मस्जिद के अगले भाग का अवलोकन करने पर यह दृश्यमान होता है कि उत्तरी द्वार पर एक-दूसरे का सामना करते हुए दो चीते बने हैं । वे ऐसी मुद्रा में हैं जैसेकि छलांग मारने वाले हैं और उनकी पूंछ भी बिल्कुल ऐसे आकार में है जब कोई चीता छलांग मारता है । इन दोनों चीतों के मध्य एक मोर बना है । यह मस्जिद का लक्षण नहीं है ।

(3) विभिन्न हिंदू देवताओं की प्रतिमाओं की या तो रंगाई की गई है या उनके शिलालेखों को विवादित मस्जिद में पाया गया है ।

(4) विवादित मस्जिद में नमाज पढ़े जाने के लिए कोई प्रबंध नहीं है । आज के दिन में भी इसमें कोई मीनार नहीं है, वज़ू के लिए जल के भंडारण के लिए कोई स्थान नहीं है ।

(5) मुस्लिम आस्था, जैसाकि पवित्र कुरान में उल्लेख है, मंदिर को ध्वस्त किए जाने के पश्चात् उसी मंदिर के स्थल पर किसी मस्जिद के निर्माण की अनुज्ञा प्रदान नहीं करती ।

(6) बाबर ने अल्लाह की विवादित मस्जिद को कोई संपत्ति समर्पित कभी नहीं की थी । बिना स्वीकार किए यह उपधारणा किए जाने पर भी कि बाबर ने विवादित मस्जिद का निर्माण कराया था, चाहे उसने ऐसा अतिचार कारित किए जाने के द्वारा, मंदिर अर्थात् ईश्वर के स्थान को ध्वस्त कराए जाने के द्वारा कराया या उसके आदेश पर अवध के गवर्नर मीर बाकी ने कराया, यह समर्पण पूर्णतया अविधिमान्य है और व्यर्थ है । अधिकांश पुराने मंदिर की निर्माण सामग्री का प्रयोग मस्जिद के निर्माण में किया गया था और उसके कुछ मूल स्तंभ और स्तंभों की पक्तियां आज भी बेहतर स्थिति में हैं । वे काले पत्थर के अतिनिकट छोटे दानों (कसौटी) द्वारा निर्मित है और उन पर हिंदी में विभिन्न कहावतें अंकित हैं । मुख्य ढांचे की बाहरी बीम चंदन की लकड़ी द्वारा निर्मित है, इन स्तंभों और पंक्तियों की ऊंचाई 7 से 8 फीट है, आधार का आकार, मध्य भाग और ऊपरी भाग वर्गाकार हैं, शेष भाग या तो गोलाई लिए हुए है या अष्टकोणीय है .... तत्पश्चात् औरंगजेब ने भी अयोध्या के मंदिरों को अपवित्र किया, जिसके कारण हिंदुओं और मुस्लिमों के संबंधों में लंबे समय तक कड़ुवाहट बनी रही । बाद में भी मुस्लिमों ने जन्मस्थान पर बलपूर्वक कब्जा किया और हनुमानगढ़ी पर भी धावा बोला । मौलवी अमीर अली की अगुवाई में आक्रमण और आक्रमण के जवाब में आक्रमण होते रहें । (देखें 1960 के गजेटियर का पृष्ठ 353)

(7) मस्जिद का निर्माण शांति और प्रशांति के स्थान पर और ऐसे स्थान के निकट किया जाना चाहिए जहां मुस्लिम जनसंख्या बड़ी संख्या में आबाद हो । इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार मस्जिद का निर्माण किसी ऐसे स्थान पर नहीं किया जा सकता जो समस्त

दिशाओं से मंदिर द्वारा घिरी हुई हो और जहां संगीत, शंख या घंटा घरियाल के स्वर सदैव उस स्थान की शांति और प्रशांति में व्यवधान डालते हों ।

(8) मस्जिद में अजान के लिए पुकारे जाने के प्रयोजनार्थ मीनारें होनी चाहिए । बैले के अनुसार, 'जब मस्जिद में नमाज अदा करने वालों का झुंड अनुज्ञा प्राप्त करके नमाज अदा करता है, अर्थात् नमाज की अदायगी करता है । किंतु यहां पर एक शर्त यह है कि नमाज अजान के साथ होनी चाहिए या अजान की सार्वजनिक रूप से, न कि निजी रूप से, नियमित पुकार के साथ होनी चाहिए और इसके लिए नमाज अदा करने वालों का झुंड होना चाहिए, यदि वह इजाह के बिना हो और नमाज सार्वजनिक के बजाय निजी होनी चाहिए और इसके लिए स्थान इस्लाम के सत्य अर्थों के अनुसार मस्जिद नहीं होना चाहिए ।' वास्तव में प्रथम अर्धशताब्दी के दौरान झगड़े के पश्चात् मीनारों के बिना कोई मस्जिद नहीं होती । (देखें पी. आर. गणपति अय्यर की 'ला रिलेटिंग टू हिंदू एंड मुहम्डन इंडाउमेंट्स, द्वितीय संस्करण, 1918, अध्याय XVII, पृष्ठ 388) ।'

(9) वर्तमान वाद में मुस्लिमों द्वारा प्रस्तुत दावे के अनुसार भवन तीन तरफ से कब्रिस्तान द्वारा घिरा हुआ है, जिसको गंज शाहीदान कहा जाता है । फैज़ाबाद गजेटियर में भी जन्मस्थान के द्वार पर 75 मुस्लिमों के दफन का उल्लेख है और इस स्थान को वर्ष 1855 से गंज शाहीदान के नाम से जाना जाता है । यद्यपि, श्रीरामजन्म भूमि के भवन के निकट या उसके आस-पास या उसके साथ संलग्न भूमि पर पिछले 50 वर्षों से अधिक समय से किसी भी स्थान पर कोई कब्र नहीं है और यदि यह भवन ब्रिटिश काल के दौरान उनके द्वारा अवध को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किए जाने के तुरंत पश्चात् कब्रिस्तान द्वारा घिरा हुआ था, तो भी यह भवन मस्जिद नहीं हो सकता और इस भवन को नमाज अदा किए जाने के प्रयोजनार्थ मस्जिद की भांति प्रयोग नहीं किया जा सकता, सिवाय दफनाए जाने के समय अंतिम नमाज अदा किए जाने के ।"

72. उपरोक्त चुनौती को कुछ मुस्लिम साक्षियों के साक्ष्य का अवलंब लेते हुए दृढ़ता प्रदान किए जाने की ईप्सा की गई है । तीनों साक्षियों के परिसाक्ष्य के सुसंगत भागों का उल्लेख सुनवाई के अनुक्रम के दौरान किया गया है और जिसे नीचे प्रत्युत्पादित किया गया है :–

"(i) **मोहम्मद इदरीस (वादी साक्षी-10)**

साक्षी के अनुसार :

"किसी अन्य व्यक्ति की भूमि पर बलपूर्वक निर्मित किया गया भवन मस्जिद नहीं होगा । अतः, उसके धर्मज या अधर्मज होने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता । इस्लाम में किसी धर्मस्थल को ध्वस्त किया जाना मना है । इसलिए, उसको तोड़े जाने और उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता । यदि किसी ध्वस्त मंदिर के मलबे का उसके स्वामी द्वारा विक्रय किया जाता है, तो उस सामग्री को क्रय किए जाने के द्वारा मस्जिद के निर्माण पर कोई प्रतिषेध नहीं है । यह अन्य बात है कि मंदिर के मलबे को बलपूर्वक हड़प कर मस्जिद का निर्माण नहीं किया जा सकता है ।"

साक्षी ने मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों या प्रतिमाओं की आकृतियों के चित्रण पर अभिकथित किया :

"यदि किसी इमाम को इस बाबत जानकारी है कि पशुओं और पक्षियों या प्रतिमाओं या मनुष्यों की प्रतिमाओं के सीधे कुटिल चित्रों या किसी महिला के चित्रों को किसी ढांचे में उत्कीर्णित किया गया है, तो वह नमाज अदा कराने के पूर्व ऐसे उत्कीर्णन को हटाने का प्रयास करेगा । किंतु यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो भी नमाज अदा की जाएगी । मैंने पहले भी ऐसी नमाज की स्थिति और प्रभाविकता के बारे में पहले भी विचार व्यक्त किए हैं । कुछ परिस्थितियों में यह मूर्खतापूर्ण होगा और कुछ परिस्थितियों में नहीं होगा । यदि इमाम इस प्रकार के चित्रों और आकारों को हटाने का प्रयास नहीं करता, तो यह उसके द्वारा किया गया अपराध होगा । इसी प्रकार से 'शरीयत' में यह उल्लेख किया गया है कि यदि

मस्जिद की दीवारों या खंभों पर किसी जीवित प्राणी के चित्र और प्रतिमाएं विद्यमान हैं, तो वहां पर अदा की गई नमाज कतिपय परिस्थितियों के अधीन 'मकरुह' (अनपेक्षित) होगी । ऐसा 'फिख की हदीज़' में उल्लिखित है ।"

(ii) **मोहम्मद बुरहानुद्दीन (वादी साक्षी-11)**

"यह सत्य है कि किसी अन्य की भूमि के ऊपर मस्जिद का बलपूर्वक निर्माण किए जाने का निर्बंधन है । यदि किसी अन्य व्यक्ति का स्वामित्व किसी भूमि पर साबित हो जाता है, तो उस भूमि पर भूमि के स्वामी की सहमति के बिना मस्जिद का निर्माण नहीं होगा .... यदि कोई संपत्ति किसी गैर मुस्लिम से संबंधित हैं या यदि वह संपत्ति किसी मुस्लिम से संबंधित है, तो भी किसी भी परिस्थिति के अंतर्गत उस भूमि पर ध्वस्तीकरण करके जबरन मस्जिद का निर्माण नहीं हो सका । यदि यह साबित हो जाता है, तो मस्जिद को विधिक/उचित प्रतीत नहीं किया जाएगा ।"

साक्षी ने वज़ू या शुद्धि के इंतजामों के बारे में भी अभिकथित किया :

"नमाज 'तैमूम' (वज़ू के स्थान पर की जाने वाली क्रिया) का निर्वहन किए जाने के द्वारा भी अदा की जा सकती है, यदि 'वज़ू' का निर्वहन नहीं किया गया है और मस्जिद में 'वज़ू' का निर्वहन किए जाने के लिए कोई इंतजाम नहीं है और मस्जिद के आस-पास के स्थानों पर भी जल 'दस्तेयाब' (उपलब्ध) नहीं है ... मैंने ऐसी मस्जिदें भी देखी हैं, जहां 'वज़ू' का निर्वहन किए जाने के लिए कोई इंतजाम नहीं होता ।"

साक्षियों ने मनुष्यों के और अन्य चित्रों के बाबत यह अभिकथित किया :

"जब कोई मुस्लिम किसी नई मस्जिद का निर्माण करेगा, तो वह उसके भीतर किसी भी जीवित प्राणी, जैसेकि पशु-पक्षी या पुरुष-स्त्री या देवता-देवी के चित्र स्थापित नहीं

> करेगा और यदि वह ऐसा करता है, तो वह एक अपराधी होगा, फिर भी, तो इस भवन को मस्जिद ही कहा जाएगा, यदि 'शरीयत' की अन्य बातों का पालन किया जाए ।"

साक्षी ने इस बाबत कि क्या किसी मस्जिद का निर्माण किसी भवन को ध्वस्त किए जाने के पश्चात् किया जा सकता है, यह अभिकथित किया –

> "यह सत्य है कि यदि पैगम्बर के 'एहकाम' (मंजूरी) के अनुसार किसी भवन को ध्वस्त किया जाता है और उसके मलबे से मस्जिद का निर्माण किया जाता है तो ऐसा निर्माण 'मकरुह' (अनपेक्षित) होगा ।"

(iii) **मोहम्मद खालिद नदवी (वादी साक्षी-22)**

साक्षी ने अभिकथित किया –

> "यह सत्य है कि मस्जिद का निर्माण किसी धर्म से संबंधित उपासना स्थल को बलपूर्वक ध्वस्त किए जाने के द्वारा नहीं किया जाएगा । इसी प्रकार से यह अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता कि मस्जिद का निर्माण किसी अन्य धर्म से संबंधित उपासना स्थल को बलपूर्वक हड़पे जाने के द्वारा किया जा सकता है ।"

साक्षी के अनुसार यदि किसी विशिष्ट धर्म से संबंधित किसी उपासना स्थल को ध्वस्त किया जाता है, तब भी वह उस आस्था के लोगों के लिए उपासना स्थल ही बना रहेगा और यदि यह साबित कर दिया जाता है कि विवादित स्थल पर किसी मंदिर को बलपूर्वक मस्जिद के निर्माण के लिए ध्वस्त कर दिया गया था, तो भी ध्वस्त हो चुके मंदिर के बाबत यह उपधारणा की जाएगी कि वह ध्वस्त हो जाने के पश्चात् भी मंदिर ही है –

> "यह कहना सही है कि यदि किसी विशिष्ट आस्था से संबंध रखने वाले लोगों से संबंधित किसी उपासना स्थल को ध्वस्त किया जाता है, तो भी वह उपासना स्थल उस आस्था से संबद्ध लोगों के लिए उसी आस्था का उपासना स्थल बना

रहेगा । यह कहना सत्य है कि मंदिर अपनी प्रकृति नहीं खोता और वह सदैव मंदिर ही रहेगा, चाहे उसको ध्वस्त करके उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण कर दिया जाए । यदि किसी मस्जिद को ध्वस्त किया जाता है और उसके स्थान पर किसी मंदिर का निर्माण किया जाता है, तब भी मस्जिद मस्जिद ही रहेगी । यदि यह साबित हो जाता है कि विवादित स्थल पर कोई मंदिर विद्‌यमान था, जिसको बलपूर्वक ध्वस्त कर दिया गया था और उसके स्थान पर किसी मस्जिद का निर्माण किया गया था, तो ऐसे मंदिर के बाबत यह उपधारणा की जाएगी कि वह मंदिर ही है ।"

(iv) **शिया संप्रदाय के सिब्ते मुहम्मद नक्वी (वादी साक्षी-25)**

इस साक्षी के अनुसार :

"(vii) एक ही स्थान पर दो पृथक्-पृथक् उपासना स्थल के भवन या दो धर्मों के उपासना स्थल एक साथ विद्‌यमान नहीं हो सकते ।

(xv) मस्जिद में चित्र, प्रतिमाएं इत्यादि और साथ ही तैयार किए गए वस्त्र, जिन पर चित्र अंकित हो, प्रतिषिद्ध होते हैं ।

(xvii) संगीत के उपकरण जैसेकि घंटी इत्यादि मस्जिद में या उसके आस-पास अनुज्ञेय नहीं होती है ।

(xviii) जहां घंटियां बज रही हों या शंखनाद हो रहा हो, वहां नमाज अदा नहीं की जा सकती ।"

73. श्री मिश्रा ने **हेडीज़** द्वारा तैयार किए गए पाठ का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि इस्लामिक विधि के निम्नलिखित मुख्य सिद्धांतों का भंग किया गया है :–

(i) अज़ान एक दिन में कम से कम दो बार दी जानी चाहिए;

(ii) मस्जिद में वज़ू या शुद्धि का स्थान होना चाहिए;

(iii) मस्जिद में प्रतिमाओं के दिखाई देने वाले चित्र, फूल-पत्तियों के आकार या मानवी छवि नहीं होने चाहिए;

(iv) मस्जिद के आस-पास के क्षेत्र या उसके परिसर के भीतर घंटियों के बजने के सुनाई देने की अनुज्ञा नहीं होनी चाहिए;

(v) एक भूखंड पर दो धार्मिक स्थान अननुज्ञेय हैं;

(vi) मस्जिद में या उसके निकट क्षेत्र में रसोई में भोजन का तैयार किया जाना अननुज्ञेय है;

(vii) मस्जिद के निर्माण के लिए भूमि को हड़पा नहीं जाना चाहिए; और

(viii) मस्जिद के निकट क्षेत्र में कब्रें स्थित नहीं होनी चाहिए ।

वाद संख्या 4 में वादियों की तरफ से उपस्थित विद्वान् काउंसेल मोहम्मद निजामुद्दीन पासा द्वारा इन निवेदनों का खंडन, उनके द्वारा दी गई मौखिक दलीलों के अनुक्रम में और साथ ही लिखित कथन में किया गया । श्री पासा ने दलील दी :

(i) क्या मस्जिद में वज़ू के लिए स्थान आवश्यक है –

(क) बाबरी मस्जिद में शुद्धि के लिए एक विनिर्दिष्ट स्थान चिह्नित था;

(ख) हदीसों के अनुसार किसी भी परिस्थिति में इस बात को पूर्विकता प्रदान की जानी चाहिए कि मस्जिद में जाने से पूर्व घर पर ही शुद्धि कर ली जाए;

(ग) हदीसें, जिनको उद्धृत किया गया है, में यह अभिकथित है कि शुक्रवार को स्नान आवश्यक होता है या यह उपदर्शित है कि वज़ू का निर्वहन कैसे किया जाए;

(ii) इस बात पर कि क्या मस्जिद में चित्र या चित्रण के कारण नमाजियों का ध्यान भंग होता है :

(क) प्रतिषेध का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि इबादत करने वाले का ध्यान इबादत से भंग न हो;

(ख) जब कि कोई मुस्लिम यह दावा कर सकता है कि मस्जिद में उपस्थित कोई चित्र उसकी इबादत में मध्यक्षेप कर रही है, कोई बाहरी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि मस्जिद में इबादत चित्रों की उपस्थिति के कारण मारुख है; और

(ग) बेजान वस्तुओं के चित्रों को विनिर्दिष्ट रूप से अननुमोदित नहीं किया गया है ।

(iii) जहां तक मीनारों का संबंध है :

(क) इस्लाम की पहली मस्जिद में न तो मीनारें थीं और न ही गुंबद; और

(ख) बड़ी संख्या में मस्जिदों में, उस अवधि की मस्जिदों को सम्मिलित करते हुए मीनारें नहीं होती ।

(iv) खंभों/स्तंभों की उपस्थिति पर कोई आत्यंतिक व्यादेश नहीं है;

(v) एक भूमि में दो किबला नहीं हो सकते । यह एक हदीज़, जिसका अर्थ यह है कि किसी राज्य के दो धर्म नहीं हो सकते, का गलत निर्वचन है;

(vi) इस दावे के बाबत कि मस्जिद के आस-पास घंटियां नहीं होनी चाहिए :

(क) व्यावहारिक रूप से किसी आबादी वाले नगर में इस प्रकार के किसी भी व्यादेश का पालन किया जाना संभव नहीं है;

(ख) भारत में मंदिर के आस-पड़ोस में मस्जिद की उपस्थिति और घंटियों की ध्वनि का सुनाई देना अप्रायिक नहीं है;

(ग) इस्लाम का सूफी विचार अन्य आस्थाओं को मानने वालों के मध्य अधिक लोकप्रिय है ।

(vii) जहां तक कमरों की उपस्थिति का संबंध है, वर्ष 1885 के वादपत्र के साथ संलग्न मानचित्र में यह दर्शित किया गया है कि मस्जिद की पश्चिमी दिशा के समक्ष कोई कब्र नहीं है । हदीज़ों से यह उपदर्शित होता है कि किसी को कब्र की तरफ मुंह करके नमाज अदा नहीं करनी चाहिए; और

(viii) किसी भी मामले में कब्रों के संबंध में कोई बात अनुज्ञेय है या नहीं है, को सूफियों और वहाबियों, जो इस्लामिक परिदृश्य के सर्वाधिक चरमपंथी हैं, द्वारा दृढ़तापूर्वक विवादित किया गया है ।

अंतत: श्री पाशा ने दलील दी कि 'मारुख' की संकल्पना का अर्थ किसी ऐसी बात से है, जो अनपेक्षित है, किंतु प्रतिषिद्ध नहीं है; यह शुद्धत: उस बात के बाबत आध्यात्मिक विचार है, जो इबादतकर्ता को सर्वशक्तिमान अल्लाह का प्रिय बना देता है ।

श्री पाशा ने श्री मिश्रा द्वारा किए गए निर्वचन का खंडन करते हुए दलील दी कि श्री मिश्रा ने हदीसों के कतिपय पहलुओं का अवलंब धार्मिक पाठ का उचित संदर्भ में और समग्र रूप से अध्ययन किए बिना अपनी सुविधानुसार किया है ।

74. न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल ने मताभिव्यक्ति की कि बाबर के पास सम्राट के रूप में और स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न के रूप में आत्यंतिक शक्तियां थीं :

> "3389. ...... हमारे विचार में बाबर की शक्ति स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न, एकल तानाशाह की थी जिसके पास असीम शक्ति थी । वे शक्तियां उच्चतम, अनियंत्रित और आत्यंतिक थीं और वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था । क्या विजेता या कोई अन्य, यह तथ्य शेष रह जाता है कि इस क्षेत्र में, जिस पर उसने विजय प्राप्त की थी, उच्चतम प्राधिकार था । उसको कोई भी चुनौती नहीं दे सकता था ।"

न्यायाधीश ने मताभिव्यक्ति की कि 'क्या विवादित भवन मस्जिद है, जिसके संबंध में मस्जिद की भांति विचार किया जाना चाहिए, जिसके बारे में यह विश्वास किया जाना चाहिए कि वह मस्जिद है और उस भवन को एक मस्जिद की भांति प्रयोग किया जाता था', के बाबत न केवल शरीयत के नियमों को ध्यान में रखते हुए निर्णय किया जाना चाहिए, बल्कि इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि लोगों ने समय की लंबी अवधि के दौरान उस पर कैसे विश्वास किया और कैसे आचरण किया । उच्च न्यायालय ने विनिर्धारित किया कि क्या मुस्लिमों ने मस्जिद के निर्माण के तुरंत पश्चात् उसका प्रयोग नमाज अदा किए जाने के प्रयोजनार्थ किया था, को किसी भी प्रकार से साबित नहीं किया गया, किंतु इस बात को स्पष्ट किए जाने के प्रयोजनार्थ साक्ष्य उपलब्ध था कि मुस्लिम वर्ष 1856-57 में विभाजन की दीवार के निर्माण के

पश्चात् ही नमाज अदा करने के लिए मस्जिद में आते थे । इस बात को साबित नहीं किया गया कि क्या नमाज अदा की गई थी, किंतु इस बात को साबित किया गया कि वर्ष 1857 से जब तक तारीख 16 दिसंबर, 1949 को भीतरी बरामदे में अंतिम बार नमाज अदा नहीं की गई, मुस्लिम शरीयत के नियमों के अनुसार नमाज के लिए मस्जिद में आते थे, का कोई महत्व नहीं है, चूंकि उन लोगों का आचरण जिन्होंने विश्वास किया और नमाज अदा की, प्रश्नगत संपत्ति की प्रकृति और प्रयोग को विनिर्धारित किए जाने के प्रयोजनार्थ विनिर्धारक कारक होगा । बाबर या औरंगजेब (जिसने भी मस्जिद का निर्माण किया) का प्राधिकार आत्यंतिक था और न्यायालय इस बात का परीक्षण नहीं कर सकता कि क्या मस्जिद का निर्माण शरीयत के नियमों के अनुसार किया गया था या विपरीत :

> "3404. ...... हमारे विचार में इसको अनेक शताब्दियों के पश्चात् चुनौती नहीं दी जा सकती कि क्या बाबर या औरंगजेब या कोई अन्य व्यक्ति, सर्वोच्च प्राधिकार प्राप्त थे । क्या उनके द्वारा की गई कार्रवाई इस्लाम के नियमों के संगत थी या नहीं, विशेष रूप से जब वे सर्वोच्च प्राधिकारवान न्याय की किसी प्राणाली के अधीनस्थ नहीं थे । अन्यथा भी हम इस बात का परीक्षण नहीं कर सकते कि क्या उन्होंने किसी स्थान को मस्जिद का नाम देते हुए न्यायपूर्ण या दोषपूर्ण ढंग से निर्माण किया, विशेष रूप से तब जब कम से कम स्थानीय लोग इस बात पर विश्वास करते हों कि जो निर्माण किया गया वह मस्जिद है ।"

न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल के विचार में

> "3405. ऐसा कुछ जो विगत 200 से भी अधिक वर्षों के दौरान घटित हुआ और जो कानून का सृजन है और जो एक प्रणाली के अंतर्गत प्रवृत्त हुआ और जिसका स्वयमेव 100 से भी अधिक वर्षों के पश्चात् जन्म हुआ, जब विवादग्रस्त भवन का निर्माण शुरू हुआ, को ध्यान में रखते हुए हमारा यह स्पष्ट मत है कि वह इस न्यायालय द्वारा न्यायिक संवीक्षा की विषयवस्तु नहीं हो सकता । वह सभी कुछ, जिसको विशेषज्ञ धार्मिक साक्षियों ने स्वीकार किया है कि यदि किसी मस्जिद का निर्माण किया जाता है, तो उसके ऊपर जीवित प्राणियों,

जैसेकि मनुष्यों की प्रतिमाओं या पशुओं की प्रतिमाओं की बने रहने की अनुज्ञा नहीं होगी । विवादित भवन के निर्माता ने इस बात पर अन्यथा रूप से विचार किया, फिर भी इस्लाम के अनुयायी नमाज के प्रयोजनार्थ परिसर का प्रयोग करने में नहीं झीझके । क्या ऐसे व्यक्तियों, जो इस प्रकार की उपासना के लिए परिसर में आते थे, का विश्वास उच्चतर कोटि का था या निम्नतर कोटि का या बारंबार या यदाकदा और आंतरायिक था, का कोई परिणाम नहीं होगा । ऐसा पर्याप्त होगा यदि मुस्लिमों द्वारा नमाज अदा की जाती है । हिंदुओं द्वारा यह जानते हुए भी उपासना किया जाना कि विवादित भवन मस्जिद है, अन्य मामला है, किंतु इस आधार पर वह तरीका जिसमें विवादित भवन विगत 250 वर्षों से अधिक अवधि से जाना जाता है, परिवर्तित नहीं किया जा सकता ।"

उच्च न्यायालय के विचार में यह महत्व का मामला है कि मुस्लिमों द्वारा वर्ष 1860 से तारीख 16 दिसंबर, 1949 तक नमाज अदा की जाती थी, यद्यपि रुक-रुक कर ।

75. श्री मिश्रा द्वारा उपरोक्त विचार का विरोध करते हुए दलील दी गई कि उच्च न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्ति अनवधानतावश थी और 1876 के अवध विधि अधिनियम की धारा 3 के निबंधनों के अनुसार धार्मिक प्रयोग वाले भवनों या संस्थाओं के मामलों पर विनिश्चय इस्लामिक विधि के अनुसार या हिंदू विधि के अनुसार पारित किए जाने चाहिए, जैसा भी मामला हो ।

76. आवश्यक रूप से वे निवेदन, जो इस न्यायालय के समक्ष दिए गए, धार्मिक सिद्धांत (Theological Doctrien) पर आधारित होने चाहिए और उनके संबंध में कटौती का सिद्धांत (Doctrien of Reduce) लागू किया जाना चाहिए चाहे मस्जिद की प्रास्थिति या निर्माण के लिए हदीसों द्वारा विहित प्रत्येक लक्षण की पूर्ति कर दी गई हो ।

77. दलीलों के अनुक्रम के दौरान यह बात प्रकट हुई कि इस्लाम का चरम और यहां तक कि निरपेक्ष विचार, जिसको चित्रित करने की ईप्सा श्री पी. एन. मिश्रा द्वारा की गई, धर्मशास्त्र के मामलों पर इस्लामिक विधि का एकमात्र उपलब्ध निर्वचन प्रतीत नहीं होता । इसलिए, उपलब्ध तथ्यों और

परिस्थितियों के समुच्चय के आधार पर इस न्यायालय के लिए यह समुचित नहीं होगा कि वह धर्मशास्त्र के विषय पर विचार करे और हदीसों के निर्वचक की भूमिका का निर्वहन करें । इसका सत्य परीक्षण यह है कि क्या वे लोग किसी स्थान, जहां वे प्रार्थना करते हैं, की धार्मिक प्रभावोत्पादकता पर आस्था रखते हैं । किसी स्थान, जो किसी नमाजी के लिए मस्जिद है, पर नमाज अदा करने वाले की आस्था और विश्वास को चुनौती नहीं दी जा सकती । श्री मिश्रा द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार दलील दी गई कि इस न्यायालय के लिए यह निरर्थक होगा कि इस बात को इस आधार पर चुनौती दी जाए कि कोई सच्चा मुस्लिम किसी ऐसे स्थान पर नमाज अदा नहीं करेगा, जो निर्वचन के चरम सिद्धांत का पालन नहीं करता । इस न्यायालय को एक पंथनिरपेक्ष संस्था होने और संविधान के अधिक्षेत्र के अंतर्गत स्थापित होने के नाते धार्मिक सिद्धांत के यथासंभव निर्वचनों में से किसी एक को चुनने से बचना चाहिए और इबादत करने वाले की आस्था और विश्वास को स्वीकार किए जाने के मामले में सुरक्षित अनुक्रम का पालन करना चाहिए ।

इन सब बातों के अतिरिक्त धर्म की प्रथा, इस्लाम जिसका अपवाद नहीं है, संस्कृति और सामाजिक संदर्भ के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । वास्तव में यही हमारे अनेकत्ववाद वाले समाज की ताकत है । सांस्कृतिक आत्मसात्मकरण महत्वपूर्ण कारक होता है जिसमें उस तरीके, जिसमें धर्म का पालन किया जाता है, को आकार प्रदान किया जाता है । धार्मिक आस्थाओं की अनेकत्ववाद पर आधारित विविधता, जिसका पालन भारत में किया जाता है, के सांस्कृतिक आत्मसात्मकरण का अर्थान्वयन धार्मिक सिद्धांत के विनाशक लक्षण की भांति नहीं किया जा सकता । इसके विपरीत यह प्रक्रिया किसी देश, जो अपनी एकता को धार्मिक आस्थाओं और विचारों की विविधता को समायोजित करने, सहन करने और सम्मान करने के द्वारा संरक्षित करने के समर्थ रहा है, की सत्य प्रकृति को मजबूती प्रदान करती है । हमको श्री मिश्रा द्वारा किए गए निवेदनों को अस्वीकृत करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है । हमारी न्यायालय संवैधानिक व्यवस्था पर स्थापित की गई है और उसी पर आधारित है । हम चरम और निरपेक्ष तरीके में धार्मिक सिद्धांत का निर्वचन किए जाने की दिशा में न्यायालय को ले जाने और उपासकों की

आस्थाओं को प्रश्नगत किए जाने के किसी भी प्रयास को दृढ़तापूर्वक अस्वीकृत करते हैं । अन्य कोई भी बात संविधान के अनुच्छेद 25 के अंतर्निहित मूल्य को इससे अधिक नुकसान नहीं पहुंचा सकती ।

झ. उपासना स्थल अधिनियम

78. संसद् ने 1991 का उपासना स्थल (विशेष उपबंध) अधिनियम अधिनियमित किया है[1] । इस अधिनियम की धारा 3, 6 और 8 अधिनियम के प्रवृत्त होने की तारीख (18 सितंबर, 1991) पर प्रभावी हो गई थी जबकि अन्य उपबंध के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि वे तारीख 11 जुलाई, 1991 को प्रभाव में आए । इस अधिनियम का पूरा नाम अधिनियम को अधिनियमित किए जाने के बाबत संसद् के आशय को प्रकट करता है, जो कि इस प्रकार है :

> "किसी उपासना स्थल का संपरिवर्तन प्रतिषिद्ध करने के लिए और 15 अगस्त, 1947 को यथाविद्यमान किसी उपासना स्थल के धार्मिक स्वरूप को बनाए रखे तथा उससे संसक्त या उसके आनुषंगिक विषयक उपबंध करने के लिए अधिनियम ।"

यह विधि दो प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए अधिनियमित की गई है । प्रथमतः, यह किसी उपासना स्थल के संपरिवर्तन को प्रतिषिद्ध करती है । ऐसा करने के लिए यह विधि यह आज्ञा करते हुए भविष्य के बारे में अभिकथित करती है कि किसी उपासना स्थल के धार्मिक स्वरूप को परिवर्तित नहीं किया जाएगा । द्वितीयतः, यह विधि प्रत्येक उपासना स्थल की धार्मिक प्रकृति, जैसीकि वह 15 अगस्त, 1947 को यथा विद्यमान थी, को बनाए रखे जाने के प्रयोजनार्थ, जब भारत साम्राज्यवादी शासन से स्वाधीनता अभिप्राप्त की, निश्चायक बाध्यता अधिरोपित करती है ।

79. अभिव्यक्ति 'उपासना स्थल' को धारा 2(ग) में परिभाषित किया गया है, जो निम्न प्रकार है :

> "2(ग) 'उपासना स्थल' से कोई मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर, मठ या किसी धार्मिक संप्रदाय या उसके अनुभाग का, चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो, लोक धार्मिक उपासना का कोई अन्य स्थल अभिप्रेत है ।"

---

[1] 1991 का उपासना स्थल (विशेष उपबंध) अधिनियम (1991 का 42).

उपासना स्थल अधिनियम धारा 2(क) के अधीन उपबंधित करता है कि 'इस अधिनियम का प्रारंभ' से 11 जुलाई 1991 को इस अधिनियम का प्रारंभ अभिप्रेत है ।

धारा 3 किसी धार्मिक संप्रदाय या उसी धार्मिक संप्रदाय के भिन्न अनुभाग के उपासना स्थल को किसी भिन्न धार्मिक संप्रदाय या उसी धार्मिक संप्रदाय के भिन्न अनुभाग के उपासना स्थल में संपरिवर्तित किए जाने पर वर्जन अधिनियमित करती है :

> "3. उपासना स्थलों के संपरिवर्तन का वर्जन – कोई भी व्यक्ति किसी धार्मिक संप्रदाय या उसके किसी अनुभाग के किसी उपासना स्थल का उसी धार्मिक संप्रदाय के भिन्न अनुभाग के या किसी भिन्न धार्मिक संप्रदाय या उसके किसी अनुभाग के उपासना स्थल में संपरिवर्तित नहीं करेगा ।"

धारा 4 कतिपय उपासना स्थलों के धार्मिक स्वरूप के बारे में घोषणा और न्यायालयों आदि की अधिकारिता का वर्जन करती है :

> "4. कतिपय उपासना स्थलों के धार्मिक स्वरूप के बारे में घोषणा और न्यायालयों आदि की अधिकारिता का वर्जन – (1) <u>यह घोषित किया जाता है कि 15 अगस्त, 1947 को विद्यमान उपासना स्थल का धार्मिक स्वरूप वैसा ही बना रहेगा जैसा वह उस दिन विद्यमान था</u> ।
>
> (2) यदि इस अधिनियम के प्रारंभ पर, <u>15 अगस्त, 1947 को विद्यमान उपासना स्थल के धार्मिक स्वरूप के संपरिवर्तन के बारे में कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष लंबित है तो वह उपशमित हो जाएगी और ऐसे किसी मामले की बाबत कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही</u> ऐसे प्रारंभ पर या उसके पश्चात् किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष नहीं होगी :
>
> परंतु <u>यदि इस धारा पर किए ऐसे किसी स्थल के धार्मिक स्वरूप में 15 अगस्त, 1947 के पश्चात् संपरिवर्तन हुआ है, संस्थित या फाइल किया गया कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही</u>

इस अधिनियम के प्रारंभ पर लंबित है, तो ऐसा वाद, अपील या अन्य कार्यवाही इस प्रकार उपशमित नहीं होगी और ऐसे प्रत्येक वाद, अपील या अन्य कार्यवाही का निपटारा उपधारा (1) के उपबंध के अनुसार किया जाएगा ।

(3) उपधारा (1) और उपधारा (2) की कोई बात निम्नलिखित को लागू नहीं होगी, –

(क) उक्त उपधारा में निर्दिष्ट कोई उपासना स्थल, जो प्राचीन संस्मारक तथा पुरातत्वीय स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958 (1958 का 24) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अंतर्गत आने वाला कोई प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक या कोई पुरातत्वीय स्थल या अवशेष है;

(ख) उपधारा (2) में निर्दिष्ट किसी मामले की बाबत कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही, जिसका इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी द्वारा अंतिम रूप से विनिश्चय, परिनिर्धारण या निपटारा कर दिया गया है;

(ग) ऐसे किसी मामले के बारे में कोई विवाद जो ऐसे प्रारंभ के पूर्व पक्षकार द्वारा आपस में तय हो गया है;

(घ) ऐसे किसी स्थल का कोई संपरिवर्तन जो ऐसे प्रारंभ के पूर्व उपमति द्वारा किया गया है;

(ङ) ऐसे प्रारंभ के पूर्व ऐसे किसी स्थल का किया गया कोई संपरिवर्तन, जो तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन परिसीमा द्वारा वर्जित होने के कारण किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष आक्षेपणीय नहीं है ।”

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

तथापि, उपासना स्थल अधिनियम में इस अधिनियम के उपबंधों के लागू होने से एक छूट समाविष्ट है, ‘जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद’ के नाम से जाना जाता है और जिसके संबंध में कोई वाद, अपील या कार्यवाही के बाबत छूट प्राप्त है । अधिनियम की धारा 5 अनुध्यात करती है :

> "**5. अधिनियम का रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद को लागू न होना** – इस अधिनियम की कोई बात उत्तर प्रदेश राज्य के अयोध्या में स्थित रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद के रूप में सामान्यतया ज्ञात स्थान या उपासना स्थल को और उक्त स्थान या उपासना स्थल से संबंधित किसी वाद, अपील या अन्य कार्यवाही को लागू नहीं होगी ।"

अधिनियम की धारा 6 धारा 3 के उपबंधों के अतिलंघन के लिए और इस धारा के अंतर्गत किए गए किसी प्रयास या उपशमन के कार्य के लिए तीन वर्षों के कारावास और जुर्माना के लिए दंड अधिरोपित करती है :

> **"6. धारा 3 के उल्लंघन के लिए दंड –** (1) जो कोई धारा 3 के उपबंधों का उल्लंघन करेगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि तीन वर्ष तक ही हो सकेगी, दंडनीय होगा और जुर्माने से भी दंडनीय होगा ।
>
> (2) जो कोई उपधारा (1) के अधीन दंडनीय कोई अपराध करने का प्रयत्न करेगा या ऐसा अपराध कराएगा और ऐसे प्रयत्न में अपराध करने की दिशा में कोई कार्य करेगा, वह उस अपराध के लिए उपबंधित दंड से दंडनीय होगा ।
>
> (3) जो कोई उपधारा (1) के अधीन दंडनीय किसी अपराध का दुष्प्रेरण करेगा या उसे करने में आपराधिक षड्यंत्र का पक्षकार होगा, चाहे ऐसा अपराध ऐसी दुष्प्रेरणा के परिणामस्वरूप या ऐसे आपराधिक षड्यंत्र के अनुसरण में किया गया हो या न किया गया हो, वह भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 116 में किसी बात के होते हुए भी, उस अपराध के लिए उपबंधित दंड से दंडनीय होगा ।"

उपासना स्थल अधिनियम की धारा 7 अध्यारोही बल और प्रभाव रखती है :

> "**7. अधिनियम का अन्य अधिनियमितियों पर अध्यारोही होना –** इस अधिनियम के उपबंध, तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या इस अधिनियम से भिन्न किसी विधि के आधार पर प्रभावी किसी लिखत में उससे असंगत किसी बात के होते हुए भी, प्रभावी होंगे ।"

80. उपासना स्थल अधिनियम 2 दृढ़ और आज्ञापक नियम अधिरोपित करता है :

(i) धारा 3 किसी धार्मिक समूह या किसी धार्मिक समूह के किसी वर्ग के उपासना स्थल को समान धार्मिक समूह के किसी भिन्न वर्ग या किसी भिन्न धार्मिक समूह के उपासना स्थल में परिवर्तित किए जाने पर वर्जन अधिरोपित करती है । 'उपासना स्थल' अभिव्यक्ति को समस्त धर्मों और धार्मिक समूहों के सार्वजनिक धार्मिक उपासना के स्थानों को आच्छादित किए जाने के प्रयोजनार्थ यथासंभव व्यापकतम शब्दों में परिभाषित किया गया है; और

(ii) यह विधि प्रत्येक उपासना स्थल की धार्मिक प्रकृति को उसी स्थिति में परिरक्षित करती है, जिस स्थिति में वह तारीख 15 अगस्त, 1947 को विद्‌यमान था । यह विधि इस प्रयोजन को अभिप्राप्त किए जाने के उद्देश्य से ऐसे किसी भी उपासना स्थल की धार्मिक स्वरूप को परिवर्तित किए जाने के संबंध में उन वादों और विधिक कार्यवाहियों के उपशमन के लिए उपबंधित करती है, जो तारीख 15 अगस्त, 1947 को विद्‌यमान थे । उपासना स्थल अधिनियम इस उद्देश्य के अतिरिक्त नए वादों और विधिक कार्यवाहियों को संस्थित किए जाने पर भी वर्जन अधिरोपित करता है । एकमात्र अपवाद उन वादों, अपीलों या कार्यवाहियों के संबंध में इस आधार पर उपबंधित किया गया है कि जो वाद इस विधि के आरंभ की तारीख को लंबित थे कि किसी उपासना स्थल का परिवर्तन तारीख 15 अगस्त, 1947 के पश्चात् किया गया था । धारा 4 की उपधारा (2) का परंतुक उन वादों, अपीलों और विधिक कार्यवाहियों को संरक्षण प्रदान करता है, जो इस अधिनियम के आरंभ की तारीख पर लंबित थे, यदि वे अधिनियम के लागू होने की तारीख के पश्चात् किसी उपासना स्थल की धार्मिक प्रकृति के परिवर्तन से संबंधित थे । तथापि, धारा 4 की उपधारा (3) अनुध्यात करती है कि पूर्ववर्ती दोनों धाराएं लागू नहीं होंगी :

(क) उक्त उपधारा में निर्दिष्ट कोई उपासना स्थल, जो प्राचीन संस्मारक तथा पुरातत्वीय स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958 (1958 का 24) या तत्समय प्रवृत्त किसी

अन्य विधि के अंतर्गत आने वाला कोई प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक या कोई पुरातत्वीय स्थल या अवशेष है;

(ख) उपधारा (2) में निर्दिष्ट किसी मामले की बाबत कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही, जिसका इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी द्वारा अंतिम रूप से विनिश्चय, परिनिर्धारण या निपटारा कर दिया गया है;

(ग) ऐसे किसी मामले के बारे में कोई विवाद जो ऐसे प्रारंभ के पूर्व पक्षकार द्वारा आपस में तय हो गया है;

(घ) ऐसे किसी स्थल का कोई संपरिवर्तन जो ऐसे प्रारंभ के पूर्व उपमति द्वारा किया गया है;

(ङ) ऐसे प्रारंभ के पूर्व ऐसे किसी स्थल का किया गया कोई संपरिवर्तन, जो तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन परिसीमा द्वारा वर्जित होने के कारण किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष आक्षेपणीय नहीं है ।

इस अधिनियम की धारा 5 अनुध्यात करती है कि यह अधिनियम रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद से संबंधित किसी वाद, अपील या उससे संबंधित किसी कार्यवाही में लागू नहीं होगा । परिणामस्वरूप इस अधिनियम में एक विनिर्दिष्ट अपवाद समाविष्ट है, जो वर्तमान विवाद के संबंध में उपासना स्थल के उपबंधों द्वारा सृजित किया गया है ।

संसद् का आशय

81. उपरोक्त विधि (उपासना स्थल अधिनियम) अधिनियमित किए जाने के प्रयोजन को केंद्रीय गृह मंत्री द्वारा लोक सभा में तारीख 10 सितंबर, 1991 को स्पष्ट किया गया था[1] :–

"हमने देखा कि यह विधेयक प्रेम, शांति और सद्भाव की हमारी गौरवपूर्ण परंपराओं को उपबंधित और विकसित किए जाने का एक उपाय है । ये परंपराएं उस सांस्कृतिक विरासत का भाग हैं जिस

---

[1] लोक सभा चर्चा, खंड V, संख्या 41-49 पृष्ठ 448.

पर प्रत्येक भारतीय को न्यायोचित रूप से गर्व होता है । समस्त आस्थाओं के लिए सहनशीलता अनादिकाल से हमारी महान सभ्यता की विशेषता रही है ।

मेल-जोल, सद्भाव और एक दूसरे के लिए सम्मान की ये परंपराएं स्वाधीनता पूर्व अवधि के दौरान अत्यधिक खतरे में आ गई थी जब साम्राज्यवादी शक्ति ने देश में साम्प्रदायिक विघटन को सक्रिय रूप से सृजित और प्रोत्साहित किया । हमने स्वाधीनता के पश्चात् भूतकाल के जख्मों को भरने का कार्य किया और साम्प्रदायिक मेल-जोल और मंगलकामना की परंपराओं को उसी स्थान पर पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया, जहां वे स्वाधीनता की पूर्व की अवधि के दौरान थीं । किसी सीमा तक हम इसमें सफल भी हुए, यद्यपि हमको इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि हमें दुर्भाग्यपूर्ण रूप से कुछ विफलताएं भी हाथ लगी । फिर भी उन विफलताओं से हतोत्साहित होने के बजाय यह हमारा कर्तव्य और वायदा है कि हम भविष्य के लिए उन विफलताओं से सबक लें ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

केंद्रीय गृह मंत्री ने उल्लेख किया कि वह विधि, जो उपासना स्थलों को जबरन परिवर्तित किए जाने को प्रतिषिद्ध करती है, को अधिनियमित किए जाने का प्रयोजन यह है कि 'नए विवादों को सृजित होने से और उन पुराने विवादों को उठाए जाने से रोका जा सके, जिनको लोगों द्वारा लंबी अवधि के पूर्व भुला दिया गया है ... और साथ ही को इस विधि द्वारा ईप्सित उद्देश्यों को अभिप्राप्त किया जा सके'[1] । तारीख 15 अगस्त, 1947 की निर्धारित तारीख के समर्थन में बोलते हुए सदस्यों (श्रीमती मालनी भट्टाचार्या) ने स्पष्ट किया[2] :–

"किंतु मैं यह समझती हूं कि यह 15 अगस्त, 1947 की तारीख महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उपधारणा की जाएगी कि उस तारीख पर हमारा आधुनिक, लोकतांत्रिक और प्रभुसत्तासंपन्न राष्ट्र के रूप में आविर्भाव हुआ और हमने सदैव के लिए भूतकाल की

---

[1] लोक सभा चर्चा, खंड V, संख्या 41 से 49, पृष्ठ 448.

[2] लोक सभा चर्चा, खंड V, संख्या 41 से 49 पृष्ठ 443 से 444.

बर्बरता को नकार दिया । हमने इस तारीख से स्वयं को भी एक राष्ट्र, जिसका कोई आधिकारिक धर्म नहीं है और जो समस्त विभिन्न धार्मिक समूहों को समान अधिकार प्रदान करता है, के रूप में... पहचाना है । इसलिए, इस तारीख के पहले जो कुछ भी घटित हुआ है, हम सभी आशा करते हैं कि वह इस तारीख के पश्चात् भविष्य में ऐसा कोई पतनोन्मुख कार्य नहीं होगा ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

82. उपासना स्थल अधिनियम, जो संसद् द्वारा वर्ष 1991 में अधिनियमित किया गया, संविधान द्वारा प्रदत्त संवैधानिक मूल्यों को संरक्षण प्रदान करता है और उनको सुनिश्चित करता है । संविधान की प्रस्तावना विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान की जाने की आवश्यकता पर बल देती है । यह प्रस्तावना मानवीय गरिमा और बंधुत्व पर बल देती है । संहनशीलता, सभी धर्मों और आस्थाओं के लोगों के लिए सम्मान और समता की स्वीकार्यता इस बंधुत्व का आधारी समादेश है । केंद्रीय गृह मंत्री द्वारा तारीख 12 सितंबर, 1991 को राज्यसभा को संबोधित करते हुए यह अभिकथित किया गया :-

"मेरा यह विश्वास है कि भारत अपनी सभ्यता के लिए जाना जाता है और विश्व को भारत का महानतम योगदान वह सहनशीलता, समझ, समावेशी भावना और विश्ववादी दृष्टिकोण है, जो यह दर्शित करता है कि .....

अद्वैत दर्शन.... में स्पष्टत: कहा गया है कि ईश्वर और स्वयं के मध्य कोई अंतर नहीं है । हमको इस बात को महसूस करना होगा कि ईश्वर केवल मंदिर या मस्जिद में नहीं है, किंतु ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में है ....

इस बात को प्रत्येक व्यक्ति को समझना होगा कि उसको संविधान के प्रति निष्ठावान होना है, देश की एकता के प्रति निष्ठावान होना है : शेष सभी बाते अतात्विक हैं ।"

संसद् ने सार्वजनिक उपासना स्थलों, जो जिस स्थिति में तारीख 15 अगस्त, 1947 को विद्यमान थे, की धार्मिक प्रकृति के संरक्षण के

लिए प्रत्याभूति प्रदान करते हुए और सार्वजनिक उपासना के स्थानों को परिवर्तित किए जाने के विरुद्ध यह निर्णय लिया कि साम्राज्यवादी शासन से स्वतंत्रता का संवैधानिक आधार यह है कि प्रत्येक धार्मिक समुदाय को भूतकाल के अन्याय पर मरहम लगाए जाने के प्रयोजनार्थ इस बाबत विश्वास में लिया जाए कि उनके उपासना स्थल संरक्षित रहेंगे और उनकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा । यह विधि राज्य को और साथ ही राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को स्वयं ही संबोधित करती है । इसमें उपबंधित नियम ऐसे प्रत्येक व्यक्ति पर बाध्यकारी हैं, जो प्रत्येक स्तर पर राष्ट्र के मामलों को शासित करते हैं । वे नियम अनुच्छेद 51-क के अधीन मूल कर्तव्यों को क्रियान्वित करते हैं और इसलिए प्रत्येक नागरिक के लिए निश्चायक रूप से आज्ञापक है । राज्य ने इस विधि को अधिनियमित किए जाने के द्वारा एक संवैधानिक प्रतिबद्धता प्रवर्तित की है और समस्त धर्मों के मध्य समता और पंथनिरपेक्षता, जो संविधान के आधारी लक्षणों के भाग हैं, को सर्वोपरि रखे जाने के प्रयोजनार्थ अपनी संवैधानिक बाध्यताओं को क्रियान्वित किया है । उपासना स्थल अधिनियम भारत के संविधान के अंतर्गत पंथनिरपेक्षता की हमारी प्रतिबद्धता को प्रवर्तित किए जाने के पश्चात् एक गैर अपमानजनक दायित्व अधिरोपित करता है । इसलिए, यह विधि एक विधायी लिखत है, जो भारतीय राजव्यवस्था, जो हमारे संविधान के आधारी लक्षणों में से एक हैं । संविधान के आधारी सिद्धांतों का एक लक्षण है गैर-पतनोन्मुखता, जिसका पंथनिरपेक्षता केंद्रीय संघटक है । अतः, उपासना स्थल अधिनियम एक विधायी मध्यक्षेप है, जो गैर-पतनोन्मुखता को पंथ निरपेक्ष मूल्यों के आवश्यक लक्षण के रूप में संरक्षण प्रदान करता है ।

संवैधानिक मूल्य के रूप में पंथनिरपेक्षता

83. **एस. आर. बोम्मई** बनाम **भारत संघ** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय की नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा दिए गए विनिश्चय में न्यायमूर्ति बी. पी. जीवन रेड्डी ने यह अभिनिर्धारित किया :-

> "304. ... सामाजिक न्याय, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा और अवसर की समता के संवैधानिक वायदों को किस प्रकार से अभिप्राप्त किया जाना है, जब तक कि राज्य किसी व्यक्ति के अधिकारों, उसके कर्तव्यों और उसकी पात्रताओं पर

विचार करते हुए उसके धर्म, आस्था या विश्वास पर विचार करने से पूर्णतया इनकार नहीं कर देता ? अतः, पंथनिरपेक्षता धार्मिक सहिष्णुता के सकारात्मक व्यवहार से बढ़कर किया जाने वाला व्यवहार है । यह समस्त धर्मों के लिए समान व्यवहार की सकारात्मक संकल्पना है । इस व्यवहार को कुछ लोगों द्वारा धर्म के प्रति तटस्थता या एक प्रकार की परोपकारी तटस्थता भी कहा जाता है । यह एक ऐसी संकल्पना है जिसको पश्चिम के उदारवादी विचार द्वारा अंतर्वलित किया गया है अथवा यह, जैसाकि कुछ लोग कहते हैं, समस्त समय-बिंदुओं पर भारतीय लोगों द्वारा पालन की जाने वाली आस्था है । यह तात्विक नहीं है । जो तात्विक है, वह यह है कि यह एक संवैधानिक लक्ष्य है और भारत के संविधान का आधारी लक्षण है, जैसाकि **केशवानंद भारती** {केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, (1974) 4 एस. सी. सी. 225 = [1973] सप्ली. एस. सी. आर. 1} और **इंदिरा एन. गांधी** बनाम **राजनारायण** {1977 सप्ली. 1975 एस. सी. सी. 1 = [1976] 2 एस. सी. आर. 347} वाले मामले में अभिपुष्टि की गई है । सरल शब्दों में इस संवैधानिक नीति के असंगत की गई कोई भी कार्रवाई असंवैधानिक है ।"

उपासना स्थल अधिनियम आंतरिक रूप से पंथनिरपेक्ष राज्य की बाध्यताओं से संबंधित अधिनियम है । यह अधिनियम भारत की समस्त धर्मों के प्रति समता के दृष्टिकोण की बाध्यता को परावर्तित करता है । इन सब बातों के अतिरिक्त उपासना स्थल अधिनियम उस पवित्र कर्तव्य का तुष्टीकरण है, जिसको राज्य पर समस्त आस्थाओं के मध्य समानता को संरक्षित और सुरक्षित किए जाने के प्रयोजनार्थ एक आवश्यक संवैधानिक मूल्य, एक मानक, जो संविधान का आधारी लक्षण होने की हैसियत रखता है, के रूप में अधिरोपित किया गया था । उपासना स्थल अधिनियम को अधिनियमित किए जाने का यही वास्तविक प्रयोजन है । यह विधि हमारे इतिहास और राष्ट्र के भविष्य के बारे में चर्चा करती है । हम अपने इतिहास और राष्ट्र के लिए उससे टकराव के प्रति अत्यधिक जागरूक हैं, क्योंकि स्वाधीनता भूतकाल के जख्मों पर मरहम लगाने का ऐतिहासिक क्षण था । ऐतिहासिक भूलों को लोगों द्वारा कानून अपने हाथ में लिए जाने के द्वारा दुरुस्त नहीं किया जा सकता । संसद् ने सार्वजनिक उपासना के

स्थानों के स्वरूप का संरक्षण किए जाने के प्रयोजनार्थ स्पष्ट शब्दों में आज्ञापक किया है कि इतिहास और उसकी भूलों को वर्तमान और भविष्य में उत्पीड़न के आयुद्ध के रूप में प्रयोग नहीं किया जाएगा ।

84. न्यायमूर्ति डी. वी. शर्मा द्वारा उपासना स्थल अधिनियम पर की गई मताभिव्यक्तियां विधि की योजना के विपरीत हैं क्योंकि वे जहां तक उनका संबंध संवैधानिक मूल्यों की रूपरेखा से है । न्यायमूर्ति डी. वी. शर्मा ने मताभिव्यक्ति की वह निम्नलिखित है :–

> "1(ग) धारा 9 अत्यधिक व्यापक है । किसी ईसाई धर्म से संबंधित न्यायालयों की अनुपस्थिति में कोई भी धार्मिक विवाद संज्ञेय है, सिवाय अत्यधिक विरल मामलों के, जिनमें ईप्सित घोषणा वह घोषणा हो सकती है, जो धार्मिक अधिकार सृजित करती हो । 1991 का उपासना स्थल (विशेष उपबंध) अधिनियम उन मामलों को विवर्जित नहीं करता, जिनमें घोषणा अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व की अवधि के लिए ईप्सित है या उन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ईप्सित है, जिनको अधिनियम के पूर्व मान्यता प्रदान की गई थी ।"

न्यायमूर्ति डी. वी. शर्मा द्वारा निकाला गया उपरोक्त निष्कर्ष प्रत्यक्षत: धारा 4(2) के उपबंधों के विपरीत है । न्यायमूर्ति डी. वी. शर्मा ने उपरोक्त मताभिव्यक्तियों में यह अनुध्यात किया कि उपासना स्थल अधिनियम निम्नलिखित प्रकृति के मामलों, जिन पर विचार किया जा रहा है, को विवर्जित नहीं करेगा, अर्थात् :–

> (i) ऐसे मामलों जिनमें उपासना स्थल अधिनियम के प्रवर्तन की पूर्व की अवधि के लिए घोषणा ईप्सित है; या
>
> (ii) ऐसे मामलों जिनमें किसी ऐसे अधिकार का प्रवर्तन ईप्सित है, जिसको उपासना स्थल अधिनियम के प्रवर्तन के पूर्व मान्यता प्रदान की गई थी ।

85. धारा 4(1) स्पष्टत: अनुध्यात करती है कि यह घोषित किया जाता है कि तारीख 15 अगस्त, 1947 को विद्यमान उपासना स्थल का धार्मिक स्वरूप वैसा ही बना रहेगा जैसाकि वह उस दिन विद्यमान था । धारा 4(2) विनिर्दिष्ट रूप से अनुध्यात करती है कि यदि इस अधिनियम

के प्रारंभ पर तारीख 15 अगस्त, 1947 को विद्यमान उपासना स्थल के धार्मिक स्वरूप के संपरिवर्तन के बारे में कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष लंबित है तो वह उपशमित हो जाएगी और ऐसे किसी मामले की बाबत कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही ऐसे प्रारंभ पर या उसके पश्चात् किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य प्राधिकारी के समक्ष नहीं होगी । उपधारा (2) के परंतुक में एक मात्र यह अपवाद समाविष्ट है कि जहां इस धारा पर ऐसे किसी स्थल के धार्मिक स्वरूप में तारीख 15 अगस्त, 1947 के पश्चात् संपरिवर्तन हुआ है, संस्थित या फाइल किया गया कोई वाद, अपील या अन्य कार्यवाही इस अधिनियम के प्रारंभ पर लंबित है, तो ऐसा वाद, अपील या अन्य कार्यवाही इस प्रकार उपशमित नहीं होगी और ऐसे प्रत्येक वाद, अपील या अन्य कार्यवाही का निपटारा उपधारा (1) के उपबंध के अनुसार किया जाएगा । स्पष्टत: इस कानूनी आज्ञा को ध्यान में रखते हुए यह अपवाद, जिसको न्यायमूर्ति डी. वी. शर्मा द्वारा सृजित किया गया है, विधायी निबंधनों के विपरीत है और इस लिए त्रुटिपूर्ण है ।

ञ. विधिक व्यक्तित्व

ञ.1 विधि का विकास

86. अपीलों के इस वर्तमान बंडल में विधिक विवाद का केंद्रबिंदु यह प्रश्न है कि क्या वाद संख्या 5 में प्रथम और द्वितीय वादी – 'भगवान श्रीराम विराजमान' और 'स्थान श्रीराम जन्मभूमि, अयोध्या', का सुभिन्न विधिक व्यक्तित्व है या अन्य शब्दों में वे 'विधिक व्यक्ति' हैं । भारत के न्यायालयों ने अभिनिर्धारित किया है कि हिंदू प्रतिमाएं विधिक व्यक्ति होती हैं । इस सिद्धांत का अर्थ और महत्व का परीक्षण इस निर्णय के अनुक्रम के दौरान किया जाएगा । इस प्रक्रम पर यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि वाद संख्या 5 ('भगवान श्रीराम विजराजमान') में प्रथम वादी के विधिक व्यक्तित्व, जैसाकि विवादित स्थल पर भगवान राम की भौतिक प्रतिमाओं द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया, के संबंध में पक्षों द्वारा कोई प्रतिवाद नहीं किया गया । तथापि, क्या द्वितीय वादी ('स्थान श्रीराम जन्मभूमि') विधिक व्यक्ति है, हमारे समक्ष मौखिक कार्यवाहियों में विवाद का विषय रहा है ।

87. वर्तमान मामले में हमारे द्‌वारा दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया जाना अपेक्षित है :–

> **प्रथमतः**, किसी हिंदू देवता के विधिक व्यक्तित्व की सटीक रूपरेखा क्या है ? अन्य शब्दों में न्यायालयों द्‌वारा किसी हिंदू देवता किस सीमा तक किसी नैसर्गिक व्यक्ति के विधिक व्यक्तित्व के समान कृत्रिम विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जा सकता है ?
>
> **द्‌वितीयतः**, क्या किसी भौतिक प्रकृति की संपत्ति (इस मामले में भूमि) को सुभिन्न विधिक व्यक्तित्व माना जा सकता है ?
>
> इन प्रश्नों का उत्तर दिए जाने के प्रयोजनार्थ यह आवश्यक है कि विधिक व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान किए जाने के अंतर्निहित कानूनी नवाचार या विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का सत्य प्रयोजन क्या है और न्यायालय हिंदू देवताओं को विधिक व्यक्तित्व क्यों प्रदान करते हैं ।

विधिक विषय : अधिकारों, पात्रताओं, कर्तव्यों और दायित्वों को मान्यता प्रदान किया जाना

88. किसी भी विधिक प्रणाली का आधारी सिद्धांत यह होता है कि उसको उन विषयों को मान्यता प्रदान करनी चाहिए जिनको उसके द्‌वारा शासित किया जाना ईप्सित है । ऐसा विधि द्‌वारा सुभिन्न विधिक इकाइयों या 'विधिक व्यक्तियों' को मान्यता प्रदान करते हुए किया जाता है । विधिक व्यक्ति होने के लिए यह आवश्यक है कि विधि द्‌वारा किसी विषय को एक ऐसे विषय के रूप में मान्यता प्रदान की जाए, जो अधिकारों, पात्रताओं, दायित्वों और कर्तव्यों को समाविष्ट करने वाला हो । विधिक व्यक्तियों के व्यवहार और उनके मध्य संबंधों में उनके व्यवहार को प्रत्यक्षतः विनियमित कर सकती है । इसलिए, विधिक व्यक्ति होने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति के पास विधि के अंतर्गत कतिपय अधिकार हों और निर्वहन के लिए कतिपय कर्तव्य हो, जो उसको अन्य विधिक व्यक्तियों के साथ संबंधों के विधितः प्रवर्तन के लिए अंतर्वलित होने के लिए समर्थ बनाते हो । विधिक व्यक्ति कौन है और विधिक व्यक्ति क्या है, यह विधिक प्रणाली का कार्य है । विधिक व्यक्तियों को सृजित करने या उनको मान्यता प्रदान करने की योग्यता

में सदैव ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर रहते हुए फेरफार होता रहता है । इतिहास में विधिक प्रणाली को मान्यता प्रदान करने और इस प्रकार विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से इनकार किए जाने की शक्ति का प्रयोग मानवाधिकारों की मूल शाखाओं को नष्ट किए जाने के लिए किया जाता रहा है । **रोस्को पाउंड** द्‌वारा लिखित 'न्यायशास्त्र' में निम्नलिखित लेखांश द्‌वारा इस प्रक्रिया का हवाला दिया गया है :–

> "सभ्य देशों में और यहां तक कि आधुनिक संसार में इस प्रकार की घटनाएं हुई हैं कि समस्त मनुष्य विधिक व्यक्ति नहीं थे । **एंटोनियोज़ पियूष** द्‌वारा लिखित संविधान में अधिकथित रोमन विधि में गुलाम को व्यक्ति नहीं माना गया । उसके पास न तो परिवार के अधिकार थे और न ही उत्तराधिकार के अधिकार । वह एक वस्तु के समान था और इस प्रकार पशुओं के समान था और संपत्ति के अधिकारों का विषय भी हो सकता था । ...फ्रांसीसी साम्राज्यों में गुलामी के उन्मूलन के पूर्व, गुलामों को तारीख 23 अप्रैल, 1833 के कानून के अंतर्गत विधिक व्यक्तियों के वर्ग में रखा जाता था और 1845 के कानून द्‌वारा 'किसी प्रकार की विस्तारित न्यायिक अभिरक्षा' के अंतर्गत रखा जाता था । गृह युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्र के अनेक राज्यों में मुक्त नीग्रोज़ मुक्त मनुष्य थे जिनके कोई विधिक अधिकार नहीं थे ।[1]"

इस न्यायालय द्‌वारा **पाउंड** की मताभिव्यक्तियों को **शिरोमणि गुरुद्‌वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर** बनाम **सोमनाथ दास**[2] वाले मामले में जिसमें इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ को यह विनिर्धारित करना था कि क्या 'गुरु ग्रंथ साहिब' विधिक व्यक्तित्व धारण करते हैं, में उद्धृत किया गया था । इस बात पर चर्चा करते हुए कि 'विधिक व्यक्ति कौन है' न्यायमूर्ति ए. पी. मिश्रा ने यह मताभिव्यक्ति कि :–

> "11. ...यदि हम विभिन्न देशों में किसी 'व्यक्ति' के इतिहास की खोज करते हैं, तो हम इस विस्मयकारी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस व्यक्ति को विभिन्न समय बिंदुओं पर विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है ।

---

[1] रोस्को पाउंड द्‌वारा लिखित 'न्यायशास्त्र' भाग IV, 1959 संस्करण ।

[2] (2001) 4 एस. सी. सी. 146.

....

13. समाज के विकास के साथ-साथ, जहां किसी व्यक्ति के बाबत पारस्परिक विचार-विमर्श संकीर्ण हो जाता है, ...तो व्यक्तियों की बृहत्तर परिधि का सहयोग आवश्यक हो जाता है । अतः, संस्थाएं जैसेकि निगमों और कंपनियों को समाज की सहायता से वांछित परिणाम अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ सृजित किया जाता है । किसी राज्य, नगर निगम, कंपनी इत्यादि सभी के संविधान विधि के सृजन हैं और ये 'विधिक व्यक्ति' मानव विकास की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हो । उन्होंने ऐसे परिधान धारण किए हुए थे जिनको विधि में विधायी इकाई के रूप में मान्यता प्रदान की गई ।"

89. संसार की उत्पत्तिकाल से वर्तमान तक संपूर्ण विश्व में, जो विधिक प्रणालियां विकसित हुई, द्वारा विधिक व्यक्तित्व की संकल्पना से इनकार किया जाता रहा है, जबकि संवैधानिक लोकतंत्रों में लगभग समस्त नैसर्गिक व्यक्तियों को विधि की दृष्टि में विधिक व्यक्ति माना जाता है । विधिक प्रणालियों ने नैसर्गिक व्यक्तियों की विद्यमानता के परे विधिक व्यक्तित्व की संकल्पना को भी विस्तार प्रदान किया है । यह 'कृत्रिम विधिक व्यक्ति' या 'विधिक व्यक्ति' के सृजन, जहां किसी वस्तु को, जो नैसर्गिक व्यक्ति नहीं है, को विधि में विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है, के द्वारा संभव हो सका है । इस संकल्पना के दो उदाहरण हैं, जहां नैसर्गिक व्यक्तियों के किसी समूह को सामूहिक रूप से सुभिन्न विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है (सहकारी संस्था या निगम के मामले में) और जहां किसी निर्जीव वस्तु को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है (जलयान के मामले में) । नैसर्गिक व्यक्तियों के अलावा वस्तुओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना विधिक विकास है, जिसको इतनी भली-भांति मान्यता प्रदान की गई है कि इसकी आज के न्यायालयों द्वारा अत्यधिक व्याख्या की जाती है । विधिक विकास पूर्णतया भली-भांति प्रलेखित है । **साल्मंड** ने अपनी 'ज्यूरिसप्रूडेंस' नामक पुस्तक में यह उल्लेख किया है :-

"सारतः, विधि में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो व्यक्ति नहीं होते । संयुक्त स्टॉक कंपनी या नगर निगम विधिक अनुध्यापन में व्यक्ति होते हैं । यह सत्य है कि वे केवल काल्पनिक व्यक्ति होते

हैं, न कि वास्तविक व्यक्ति; किंतु वे काल्पनिक पुरुष नहीं होते । यह व्यक्तित्व ही होता है, न कि मानवीय प्रकृति जिसको विधि द्वारा काल्पनिक रूप से निगमित निकायों (Body Corporate) के रूप में विशेषित किया गया है ।

जहां तक कानूनी सिद्धांत का संबंध है, कोई व्यक्ति ऐसा व्यक्ति होता है जिसे विधि अधिकारों और कर्तव्यों के समर्थ मानती है । कोई व्यक्ति जो इतना समर्थ हो, व्यक्ति होता है, चाहे वह कोई मनुष्य हो या नहीं और कोई व्यक्ति मनुष्य नहीं होता, जो इतना समर्थ न हो जितना कोई मनुष्य होता है, चाहे वह व्यक्ति ही क्यों न हो । व्यक्ति तत्व होते हैं जिनके अधिकार और कर्तव्य विशेषित होते हैं । यह केवल इसी संबंध में संभव है कि व्यक्ति न्यायिक महत्व रखते हैं और यही वह अनन्य दृष्टिकोण है जिससे व्यक्तित्व को विधिक मान्यता प्राप्त होती है ।

किंतु इस संबंध में हम उस विश्लेषण से एक कदम आगे बढ़ते हैं, जो यहां पर किया गया है । कोई भी व्यक्ति अधिकारों के समर्थ तब तक नहीं होता, जब तक कि वह उन हितों के भी समर्थ नहीं होता, जो दूसरों के कार्यों द्वारा प्रभावित हो सकते हों । प्रत्येक अधिकार के लिए इस प्रकृति के अंत:निहित हित अंतर्वलित होते हैं । इसी प्रकार से कोई भी व्यक्ति कर्तव्यों के समर्थ नहीं होता, जब तक कि वह उन कार्यों के भी समर्थ नहीं होता जिनके द्वारा अन्य लोगों के हित प्रभावित हो सकते हैं । इसलिए अधिकारों और कर्तव्यों को विशेषित किए जाने के लिए हितों और कार्यों को उनके आवश्यक आधारों के रूप में विशेषित किया जाना होता है । अत:, किसी व्यक्ति को किसी ऐसे व्यक्ति के रूप में विधि के प्रयोजनों के लिए परिभाषित किया जा सकता है, जिसको विधि हितों की क्षमता विशेषित करती है और इस प्रकार अधिकारों और कार्यों की क्षमता विशेषित करती है और इस प्रकार कर्तव्यों की क्षमता विशेषित करती है ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

[1] जे. डब्ल्यू. साल्मंड द्वारा लिखित ज्यूरिसप्रूडेंस, स्टीवेन एंड हेन्स (1913).

90. विधिक व्यक्ति हितों अधिकारों और कर्तव्यों को वहन करने का सामर्थ्य रखता है । **साल्मंड** ने विधिक व्यक्तित्व और भौतिक शरीर, जिसको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, के मध्य महत्वपूर्ण विभेद किया है :–

> "विधि सदैव (विधिक) व्यक्तियों को सृजित किए जाने की प्रक्रिया के दौरान उनको व्यक्तित्व का आवरण पहनाए जाने के द्वारा कुछ वास्तविक कार्य करती है । ऐसे व्यक्ति की किसी सीमा तक वास्तविक विद्यमानता होती है और केवल यही वह व्यक्तित्व होता है जो कृत्रिम होता है । वास्तव में इसके लिए कोई सैद्धांतिक आवश्यकता नहीं होती और <u>यदि विधि ऐसा करना चाहती है, तो वह ऐसा शुद्धत: किसी कृत्रिम अस्तित्व को व्यक्तित्व का आवरण पहनाने के द्वारा कर सकती है और इस प्रकार से न्याय के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती है जिसके लिए व्यक्तित्व के इस कृत्रिम विस्तार का अविष्कार किया गया । तथापि, व्यक्तित्वकरण विचार और अभिव्यक्ति के सादगीकरण को इस सीमा तक प्रेरित करता है कि इसकी सहायता निरपवाद रूप से स्वीकार हो जाती है । जिस बात का व्यक्तित्वकरण किया जाता है उसको विधिक रूप से सृजित किए गए व्यक्ति का शरीर कहा जाता है; यही वह शरीर है जिसमें विधि कृत्रिम व्यक्तित्व की प्राण शक्ति का संचार करती है</u> ।
>
> ....
>
> विधिक व्यक्ति विधि के विवेकाधीन सृजन होने के नाते उसी प्रकार के हो सकते हैं जैसाकि विधि उनको बनाना चाहती है । तथापि, वे जिनको वास्तव में हमारी स्वयं की विधि प्रणाली द्वारा मान्यता प्रदान की गई है, एकल वर्ग के अंतर्गत आते हैं अर्थात् निगम (Corporation) या निगमित निकाय (Body Corporate) निगम व्यक्तियों का एक समूह या श्रृंखला होता है, जिसको विधिक कल्पना द्वारा एक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है और प्रतीत किया जाता है । तथापि, यदि हम अपनी स्वयं की अन्य प्रणालियों पर विचार करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं

कि विधिक व्यक्तितत्व की संकल्पना लागू किए जाने के प्रयोजनार्थ अत्यधिक सीमित नहीं हैं ...।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है।)

विधिक व्यक्तितत्व मानवीय प्रकृति का नहीं होता । विधिक व्यक्तितत्व विधि द्वारा किसी उद्देश्य या (कृत्रिम) शरीर को कतिपय अधिकारों और कर्तव्यों के प्रतीक के रूप में मान्यता प्रदान करता है । अधिकार और कर्तव्य, जिनको सामान्यतया नैसर्गिक व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है, को कतिपय परिस्थितियों में निर्जीव वस्तुओं या समूहों को भी प्रदान किया जाता है, जिसके कारण कृत्रिम विधिक व्यक्ति का सृजन होता है । कृत्रिम विधिक व्यक्ति उस सीमा तक विधिक व्यक्ति होता है, जिस सीमा तक विधि उसको कानून द्वारा या न्यायिक निर्वचन द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों और अधिरोपित दायित्वों को मान्यता प्रदान करती है । **साल्मंड** ने संक्षेप में यह उल्लेख किया है कि कृत्रिम विधिक व्यक्तियों को प्रदत्त अधिकार और कर्तव्य अंततः नैसर्गिक व्यक्तियों के हितों और लाभों का प्रतिनिधित्व करते हैं । वास्तव में ऐसा निश्चित रूप से है क्योंकि ये अधिकार नैसर्गिक व्यक्तियों द्वारा ऐसे उन उद्देश्यों या समूहों से प्राप्त किए गए सारभूत लाभों के कारण हैं, जिनको उन उद्देश्यों या समूहों को विधिक व्यक्तितत्व प्रदान किए जाने के लिए विधान-मंडल के सदस्यों और न्यायालयों से अपेक्षा की जाती है ।

91. शुद्धतः सैद्धांतिक स्तर पर इस बाबत कोई निर्बंधन नहीं है कि विधिक व्यक्तितत्व किस बात पर प्रदान किया जाए । जो बात महत्वपूर्ण है, वह प्रयोजन है, जिसको विधिक व्यक्तितत्व प्रदान किए जाने के द्वारा अभिप्राप्त किया जाना ईप्सित है । वह सीमा जिस तक इस प्रयोजन को अभिप्राप्त किया जाता है, वह विधिक व्यक्तितत्व है जिसको किसी अमूर्त विचार को भी प्रदान किया जा सकता है । तथापि, साल्मंड ने उल्लेख किया है कि प्रायः विधिक व्यक्तितत्व उन उद्देश्यों को प्रदान किया जाता है, जो 'विचार और भाषा के लिए सादगी' के आधार पर सामान्य व्यक्ति की भाषा में पहले से ही व्यक्तितत्वकरण या साधुवाद की विषयवस्तु है । यह प्रश्न कि क्या विधिक व्यक्तितत्व किसी जलयान, प्रतिमा या वृक्ष को

---

[1] जे. डब्ल्यू. साल्मंड द्वारा लिखित 'ज्यूरिसप्रूडेंस', स्टीवेन एंड हेंस (1913).

प्रदान किया जा सकता है, ऐसा मामला है, जो विधि की दृष्टि में समीचीन है और वह उद्देश्य, जिसका चुनाव किया जाता है, प्रदान किए गए विधिक व्यक्ति की प्रकृति को विनिर्धारित नहीं कर सकता । विधिक व्यक्तित्व की जिस प्रकृति को प्रदान किया जाता है, का विनिर्धारण उस प्रयोजन के द्वारा होता है, जिसको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा अभिप्राप्त किया जाना ईप्सित होता है । अतः विधिक व्यक्तित्व और भौतिक शरीर, जो विधिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने के लिए अग्रसर होता है, के मध्य विभेद होता है । विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के कार्य द्वारा शरीर को विधि की दृष्टि में सजीव किया जाता है, जो कतिपय अधिकारों और कर्तव्यों को धारण करते हुए किसी सुभिन्न विधिक व्यक्तित्व का स्थान लेता है ।

92. विधिक प्रणालियों ने विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा 'विधिक व्यक्ति' की परिभाषा को नैसर्गिक व्यक्तियों के परे विस्तारित कर दिया है । इस प्रकार से सृजित विधिक व्यक्ति मानवीय प्रकृति धारण नहीं करते । किंतु उनके विधिक व्यक्तित्व में वे अधिकार और कर्तव्य समाविष्ट होते हैं, जिनका उत्तरदायित्व उनको ऐसा विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा ईप्सित प्रयोजन को अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ कानून या न्यायालयों द्वारा प्रदान किया जाता है । उन परिस्थितियों को समझा जाना महत्वपूर्ण होगा, जिनमें विधिक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया है और परिणामस्वरूप निर्जीव वस्तुओं जिनके आधार पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, को अधिकार और कर्तव्य विशेषित कर दिए गए हैं ।

93. वह कृत्रिम विधिक व्यक्ति, जिसको व्यापक रूप से मान्यता प्रदान की गई है, वह कंपनी विधि में 'निगम' है । तथापि, उन परिस्थितियों, जिनके अधीन न्यायालयों ने विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए हैं, को समझे जाने के प्रयोजनार्थ निगम का उदाहरण सीमित उपयोजन का है । विधि में व्यक्तियों के किसी समूह को एकल इकाई के रूप में पहचान प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रतीत किए जाने का विचार इतना प्राचीन है, जितना कि मानवीय सभ्यता । इस प्रकार से मान्यता प्रदान किए जाने के ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जो मानवीय इतिहास में समाज के प्रादुर्भाव के साथ बिखरे पड़े हैं, जैसेकि भागीदारियां और

प्राचीनकाल में गैर-निगमित कारबार । जैसाकि **फिलिप्स ब्लूमबर्ग** ने अपनी पुस्तक '**द मल्टीनेशनल चैलेंज टु कारपोरेशन ला**' में उल्लेख किया है :–

> "जब सम्राट ने अंततः पंद्रहवीं शताब्दी में समाज के निर्माण और व्यापार करने वाली कंपनियों – जो प्रथम कारबार निगम थे – के लिए नियमों को लेखबद्ध करना आरंभ किया, तो निगमों की विधिक प्रकृति के बाबत समझ पहले से ही विद्यमान थी । ... जैसाकि **सर एडवर्ड कोक** ने सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में; ...और **ब्लैकस्टोन** और **कीड** ने अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में लिखते हुए विश्वासपूर्वक प्रकथन किया कि निगम क्या था, उसको किस प्रकार सृजित किया गया था और उसके संगठन से कौन से विधिक गुण उद्भूत हुए । यद्यपि आरंभिकतः उनके मस्तिष्क में धार्मिक विचार थे और वे नगर निगमों के बारे में विचार कर रहे थे, फिर भी उनके द्वारा लिखित व्याख्यानात्मक निबंध कारबार से संबंधित निगमों पर भी पूर्णतः लागू होता था ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

विधिक मान्यता के प्रयोजनार्थ उद्यमियों के समूह को एकल इकाई के रूप में प्रतीत किए जाने की न्यायशास्त्र संबंधी संकल्पना उस काल तक पहले से ही स्थापित हो चुकी थी, जब प्रथम कारबार निगम विद्यमानता में आए और न्यायालयों द्वारा उनका परीक्षण अपेक्षित नहीं था । लेखक ने आगे अभिकथित किया :–

> "जब तक कि उन्नीसवीं शताब्दी का आगमन नहीं हो गया, इंग्लैंड और संयुक्त राष्ट्र, दोनों ही राष्ट्रों में कारबार प्रयोजनों के लिए निगमों की मान्यता के लिए और निगमित निकाय की मान्यता प्रदान किए जाने के लिए विनिर्दिष्ट सरकारी विनिश्चय अपेक्षित था । इंग्लैंड में इसने सम्राट या संसद् के कार्य द्वारा प्रतिष्ठा का स्वरूप ले लिया । संयुक्त राष्ट्र में इसके लिए विधायी कार्य अपेक्षित था । ...लगभग एक शताब्दी पूर्व निगमन के सामान्य कानूनों के वैश्विक आगमन के साथ-साथ निगमों का

---

[1] फिलिप्स ब्लूमबर्ग, द मल्टीनेशनल चैलेंज टु कारपोरेशन ला : द सर्च फार न्यू कारपोरेट पर्सनेलिटी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1993), पृष्ठ 3.

> गठन साधारण रूप से कतिपय प्रपत्र फाइल किए जाने और कतिपय शुल्कों और करों का संदाय किए जाने के द्वारा किया जा सकता था । राज्य की भूमिका में प्रक्रियाओं के सामान्य विनिर्देशन और कानूनी औपचारिताओं के साथ निगमित निकायों का निगमन कराने वालों द्वारा अनुपालन की अनुसचिवीय प्रशासनिक स्वीकारोक्ति के कारण नाटकीय ढंग से कमी आई है ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

किसी निगम का स्वतंत्र विधिक व्यक्तित्व न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने पर कभी भी निर्भर नहीं रहा । आरंभिकत: निगम का विधिक व्यक्तित्व सरकार के निश्चायक कार्य द्वारा प्रदान किया गया था । पश्चात्वर्ती वर्षों में जब निगम कारबार संचालित करने का पसंदीदा तरीका बन गया, तब निगमन के सामान्य कानूनों, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को कतिपय कानूनी शर्तों के अध्यधीन रहते हुए कंपनी निगमित करने की अनुज्ञा प्रदान की जाने लगी, द्वारा निगमित व्यक्तित्व प्रदान किया जाने लगा । यह ऐतिहासिक घटनाक्रम सरकार के निश्चायक कार्य को कानूनी ढांचे, जिसके अंतर्गत इसे प्रदान किया गया, के सृजन के आधार पर विचलन को निगमित व्यक्तित्व के आधार पर रेखांकित करते हैं । तथापि, यह उन कारणों को रेखांकित नहीं करता, जो विधिक व्यक्तित्व को प्रदान किए जाने पर बल देते हैं और वर्तमान स्थिति में इससे अधिक सहायता नहीं मिलती ।

जलयान

94. वर्तमान प्रयोजनों के लिए एक अत्यधिक महत्वपूर्ण उदाहरण है किसी जलयान को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना । समुद्री ग्रहणाधिकार और सार्वजनिक कार्रवाई की संकल्पना समुद्री विधि के स्थापित नियम हैं । समुद्री ग्रहणाधिकार किसी जलयान द्वारा कारित किसी गलत कार्य या नुकसान के मामले में उद्भूत हो सकता है, जो दावेदार को जलयान पर उपस्थित चीजों ('res') के संबंध में प्रभार प्रदान करता है । यह प्रभार सार्वजनिक कार्रवाई ('action in rem'), जिसके अधीन जलयान द्वारा

---

[1] फिलिप्स ब्लूमबर्ग, द मल्टीनेशनल चैलेंज टु कारपोरेशन ला : द सर्च फार न्यू कारपोरेट पर्सनेलिटी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1993), पृष्ठ 22.

विधिक व्यक्ति के रूप में प्रत्यक्षत: कार्रवाई की गई थी, द्वारा स्पष्ट होता है । **सर जॉर्ज जेसेल एम. आर.** ने सन् 1881 में अपनी पुस्तक '**सिटी आफ मक्का**' में निम्नलिखित मताभिव्यक्ति करते हुए स्पष्ट किया है ।[1]

> "आप जलयान के विरुद्ध इंग्लैड और अधिकांश देशों में कार्रवाई कर सकते हैं । ऐसे जलयान के स्वामी के विरुद्ध रिट जारी की जा सकती है चाहे स्वामी कभी भी दृष्टिगत न हो और आप आरंभ से अंत तक किसी भी व्यक्ति को नामित किए बिना जलयान के विरुद्ध निर्णय प्राप्त कर सकते हैं । यह सार्वजनिक कार्रवाई होती है और इस बात को भली-भांति समझा गया है कि निर्णय जलयान के विरुद्ध पारित किया गया है ।"

डी. आर. थॉमस ने अपनी पुस्तक '**मेरीटाईम लियन्स**'[2] नाम पुस्तक में जलयानों को न्यायिक रूप से विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के इतिहास को रेखांकित किया है । उन्होंने इस संकल्पना के क्रम का स्पष्टीकरण करते हुए दो सिद्धांतों – 'व्यक्तितत्वकरण सिद्धांत' और 'प्रक्रियात्मक सिद्धांत' के बारे में चर्चा की :–

> "प्रथम (सिद्धांत), जिसे सामान्यत: 'व्यक्तितत्वकरण सिद्धांत' के नाम से जाना जाता है, न्यायिक तकनीकी, जिसने जलयान को व्यक्तितत्व प्रदान किए जाने के विचार को मध्ययुगीन काल से अंतर्वलित किया, के बाबत समुद्री ग्रहणाधिकार की ऐतिहासिक रूप से उत्पत्ति और विकास को रेखांकित करती है । इस सिद्धांत के अंतर्गत किसी जहाज का व्यक्तितत्वकरण किया जाता है और उसको सुभिन्न न्यायिक अस्तित्व के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है, जो संविदा में प्रविष्ट होने और अपकृत्य कारित करने की सक्षमता रखता है । जलयान उत्तरदायित्व का स्रोत भी है और सीमा भी ।
>
> ....
>
> द्वितीय सिद्धांत, जिसको प्रक्रियात्मक सिद्धांत के रूप में जाना जाता है, इस पर आधारित है कि समुद्री ग्रहणाधिकार जलयान के

---

[1] द सिटी आफ मक्का (1881) 5 पी. डी. 106.

[2] डी. आर. थॉमस द्वारा लिखित 'मेरीटाइम लियन्स इन ब्रिटिश शिपिंग ला' : खंड 14 (स्टीवेन एंड सन्स लंदन, 1980), पृष्ठ 7 और 38.

वास्तविक स्वामी की उपस्थिति को विवश किए जाने और उससे प्रतिभूति अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ उसकी गिरफ्तारी की प्रक्रिया को अंतर्वलित करता है ।

....

यद्यपि यह बिंदु अनिश्चितता से मुक्त नहीं है, फिर भी अधिसंभाव्य रूप से मामला यह है कि समुद्री ग्रहणाधिकार एक सारभूत अधिकार है जबकि सार्वजनिक रूप से कार्रवाई का कानूनी अधिकार तात्विक रूप से प्रक्रियात्मक अनुतोष है । सार्वजनिक कार्रवाई के कानूनी अधिकार की उपलब्धता के पीछे उद्देश्य दावेदार को अधिकारिता का पता लगाए जाने और दावे के लिए सुरक्षा के रूप में .....(रेस) उपलब्ध कराने के समर्थ बनाना है ।[1]"

95. सीमित विधिक व्यक्तित्व और न्याय-निर्णायक सार्थकता प्रदान किए जाने के मध्य प्रत्यक्ष अंतर्बंधन सम्मान प्रदान किए जाने के द्वारा अभिप्राप्त किया जाता है । न्यायालय यह धारणा करते हैं कि जलयान के रूप में विधिक व्यक्ति भौतिक संपत्ति है, जिसके विरुद्ध कतिपय कार्यवाही की जा सकती है । जलयान को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के फलस्वरूप जलयान के स्वामी, जो अनेक मामलों में विश्व के अन्य भागों में उपस्थित हो सकते हैं, की उपलब्धता या उपस्थिति के बाबत कार्रवाई किए जाने की अनुज्ञा प्रदान की जाती है । चूंकि जलयान किसी संक्षिप्त अवधि के लिए केवल किसी पत्तन पर उपस्थित हो सकते हैं, इसलिए दावेदार को सार्वजनिक रूप से कोई कार्रवाई किए जाने की अनुज्ञा निर्णयपूर्व सुरक्षा को सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ करनी होती है । अतः, यदि वह अनुपस्थित है, तो भी जलयान को विधिक व्यक्ति मानते हुए उसके विरुद्ध अभिव्यक्त रूप से व्यक्तित्वकरण की कार्रवाई समुद्री विवादों के प्रभावी न्यायनिर्णयन को सुनिश्चित करती है ।

96. **एम. वी. एलिज़ाबेथ** बनाम **हरवान इनवेस्टमेंट एंड ट्रेडिंग प्राइवेट लिमिटेड**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने नावधिकरण विधि के

---

[1] डी. आर. थॉमस द्वारा लिखित 'मेरीटाईम लियन्स इन ब्रिटिश शिपिंग ला' : खंड 14 (स्टीवेन एंड सन्स, लंदन, 1980), पृष्ठ 7 और 38.

[2] (1993) सप्ली. 2 एस. सी. सी. 433.

इस सिद्धांत के अंतर्निहित आधार का उल्लेख किया । न्यायमूर्ति **थॉम्मेन** ने दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ की तरफ से निर्णय पारित करते हुए इंग्लिश न्यायालयों द्वारा नावधिकरण अधिकारिता के प्रयोग को रेखांकित किया :–

> "44. .... सार्वजनिक रूप से किसी नावधिकरण कार्रवाई का महत्वपूर्ण और विभेदकारी लक्षण यह है कि तटीय प्राधिकारियों द्वारा इस अधिकारिता का अवलंब किसी समुद्री दावे के संबंध में जलयान या जलयान के स्वामियों की राष्ट्रीयता या उसके स्वामियों के कारबार के स्थान या अधिवास या निवास या वह स्थान जहां वाद कारण पूर्णतः या भागतः उद्भूत हुआ, को ध्यान में रखे बिना गिरफ्तार किए जाने के द्वारा लिया जा सकता है ।
>
> ...नावधिकरण विधि के मामलों में जलयान का विधिक व्यक्तित्व लगभग निगमित हैसियत में होता है, उसके न केवल अधिकार होते हैं बल्कि दायित्व भी होते हैं (कभी-कभी जलयान के स्वामी से भिन्न भी हो सकते हैं), जिनको जलयान के विरुद्ध प्रक्रिया और डिक्री द्वारा उन सभी के विरुद्ध प्रवर्तित किया जा सकता है, जो उसमें हितबद्ध होते हैं और वह प्रक्रिया या डिक्री उन सभी पर बाध्यकारी होगी, समुचित मामलों में नावधिकरण के संबंध में सार्वजनिक अनुतोषों का प्रशासन किया जाता है अर्थात् संपत्ति के विरुद्ध और साथ ही व्यक्ति के विरुद्ध अर्थात् पक्ष के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से .... (बेनेडिक्ट द्वारा लिखित 'द ला आफ अमेरिकन एडमायरेल्टी', छठा संस्करण, खंड 1 पृष्ठ 3) ।
>
> 45. नावधिकरण विधि दावेदार को जलयान के विरुद्ध कार्रवाई में अग्रसर होने का सार्वजनिक अधिकार प्रदान करती है, जैसाकि जलयान के स्वामी के विरुद्ध कार्रवाई में अग्रसर होने की व्यक्ति अधिकार से विभेदित किया जा सकता है । जलयान की गिरफ्तारी को निर्णय के प्रवर्तन के प्रयोजनार्थ प्रतिभूति अभिप्राप्त करने की मात्र प्रक्रिया माना जाता है ....।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए किसी जलयान को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से कारबार की निश्चितता और समीचीनता

के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए निश्चित रूप से और पूर्ण हो जाता है । जलयान के विरुद्ध डिक्री उसमें हितबद्ध सभी पर बाध्यकारी होती है और जलयान की घुमंतू प्रकृति के बावजूद निर्णय पूर्व प्रतिभूति को सुनिश्चित किए जाने की अपेक्षा को पूर्ण कर देती है । इसके अतिरिक्त यूनाइटेड किंग्डम और भारत में जलयानों को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की प्रथा का प्रयोग लगभग सभी अधिकारिताओं में व्यापक रूप से किया गया है । **प्रो. डगलस लिंड** ने अमेरिकन न्यायालयों की दृष्टिकोण का उदाहरण देते हुए इस संकल्पना के प्रादुर्भाव को रेखांकित किया :–

> "चूंकि संयुक्त राष्ट्र अपनी प्रथम शताब्दी में प्रविष्ट हो चुका है, राष्ट्र के व्यापार और वाणिज्य और साथ ही लोगों के सामान्य यातायात का अधिकतम भाग समुद्र मार्ग या देश में बड़ी मात्रा में अंतर्देशीय नौगम्य जलमार्ग के माध्यम से हो रहा है । <u>संविधान ने नावधिकरण और समुद्री अधिकारिता के मामलों में संघीय न्यायिक शक्ति को विस्तारित कर दिया है</u> ।
>
> ...ब्रिग जेम्स वेल्स **बनाम** संयुक्त राष्ट्र वाले मामले में जिस बात का अवलंब लिया गया था, वह बाद में एक सामान्य विवाद्यक बन गया : क्या अमेरिका में रजिस्ट्रीकृत किसी जलयान की किसी संघीय कानून के अतिक्रमण के लिए निंदा की जानी चाहिए । न्यायालय ने **ब्रिग** की निंदा किए जाने को अपरिहार्य अभिनिर्धारित किया । यह तथ्य उल्लेखनीय है कि <u>जब मामले को जलयान के नाम में फाइल किया गया था, तो न तो 'समुद्री ग्रहणाधिकार' और न ही 'सार्वजनिक रूप से' शब्दों का उल्लेख किया गया था और इस बाबत कोई भी सुझाव नहीं दिया गया था कि जलयान स्वयमेव और न कि वे लोग जलयान के प्रभार में हैं उल्लंघनकारी है । ...तथापि, किसी जलयान के विरुद्ध कार्रवाई के प्रयोजनार्थ नामित किए जाने की प्रथा जलयान के व्यक्तित्वकरण के विचार का समर्थन नहीं करती । न्यायालय ने जलयान के विरुद्ध आरंभ की गई किसी भी कार्रवाई को उसमें हितबद्ध प्रत्येक व्यक्ति को 'वाद के पक्ष' के रूप में सम्मिलित करते हुए प्रतीत किया</u> ।
>
> ....

ग्रहणाधिकार के प्रवर्तन के संबंध में संघीय न्यायालयों के लिए उनके समक्ष फाइल किए गए अनेक मामले परेशानी का कारण बन गए जब जलयान में हितबद्ध स्वामियों (स्वामियों, मास्टरों) का अभिकथित रूप से गलत कार्यों की पूर्व जानकारी नहीं थी या उन गलत कार्यों में कोई सक्रिय भूमिका नहीं थी । जलयान को अभिकर्ता के रूप में समझे जाने के संबंध में अभिकरण से संबंधित परंपरागत विधि ने उत्तरदायित्व और वसूली को सुसंगत नियम के विरुद्ध कार्य किया । ... विद्या साहित्य और कविता में जलयान के विलक्षण जीवनशक्तिवाद का हवाला देते हुए यह धारणा किए जाने के प्रयोजनार्थ संघीय न्यायालयों के विधिक विवेक में मात्र किंचित वैचारिक बदलाव हुआ कि जलयान के जीवनशक्तिवाद की वास्तविकता को अनुकूलन की मानसिक विधा माना जाएगा । इस सिद्धांत ने न्यायालयों को समुद्री विधि के ऊपर जलयान के व्यक्तित्व के सिद्धांत के साथ 'पर्यावरण का नियंत्रण' प्रदान किया .... उच्चतम न्यायालय ने जलयान के व्यक्तित्व के सिद्धांत के साथ अभिकरण के संबंध को जलयान को अभिकर्ता के मुकाबले प्रधानता प्रदान करते हुए पलट दिया । इस प्रकार से सुसंगत और व्यावहारिक समुद्री अधिकारिता के 'अपेक्षित परिणाम' संभव प्रतीत हुए । जलयान के व्यक्तित्व का सिद्धांत अमेरिकन समुद्री विधि के उन्नीसवीं शताब्दी की केंद्रीय बानगी बन गए क्योंकि उच्चतम न्यायालय को यह प्रतीत हुआ कि 'विश्वास के रास्ते में अच्छा होना' चाहिए .... यह विचार उच्चतम न्यायालय के व्यावहारिक प्रयासों द्वारा उद्भूत हुआ, विशेष रूप से न्यायमूर्ति मार्शल और स्टोरी के प्रयासों द्वारा किए गए अमेरिकन गणराज्य की समालोचनात्मक सामाजिक और राजनैतिक आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाना चाहिए ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

97. अमेरिकन न्यायालयों का अनुभव यह था कि उल्लंघनकारी

---

[1] डगलस लिंड, प्रेगमेटिज्म और एंथ्रोप्रोमोरफिज़्म : रिकनसीविंग द डॉक्ट्रिन आफ द पर्सनेलिटी आफ द शिप, 22 यू. एस. एफ. मार्च एल. जे. 39 (2009) पृष्ठ 91.

जलयान के स्वामी नियमित रूप से न्यायालयों की अधिकारिता से बचते रहते हैं । तत्कालीन विद्यमान विधि इस स्थिति से निपटने में अपर्याप्त साबित हो रही थी । अत: अमेरिकन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों ने जलयान को मानव स्वरूप प्रदान किए जाने की विद्यमान गैर-विधिक प्रथा का प्रयोग किया और अपनी अधिकारिता के भीतर जलयानों को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा उनको विधिक महत्व प्रदान कर दिया । यह बात महत्वपूर्ण है कि अभिकरण की विद्यमान विधि समुद्री विधि के विलक्षण लक्षणों पर विचार किए जाने के प्रयोजनार्थ सुसज्जित नहीं थी । अत:, जलयानों के विरुद्ध कार्रवाई किए जाने की अनुज्ञा प्रदान करते हुए उनको एक ऐसे जलयान के रूप में सृजित कर दिया गया जिनके द्वारा जलयान में हितबद्ध लोगों की बाध्यताओं और उनके द्वारा की जाने वाली कार्रवाइयों, यद्यपि वे बाध्यताएं और कार्रवाइयां न्यायालय की अधिकारिता के बाहर थीं, समुद्री जलयान के व्यक्तित्व को विधि द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने के द्वारा पूर्ण कर दी गई थीं । यद्यपि अमेरिकन न्यायालयों ने इंग्लिश समुद्री न्यायालयों की अपेक्षा अधिक कार्रवाई करते हुए अनुभव के आधार पर यह प्रदर्शित किया कि जलयानों को विधिक व्यक्तित्व ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप प्रदान किया गया था, फिर भी चूंकि विद्यमान विधि में कमियां हैं और न्यायालयों द्वारा समुद्री दावों का व्यावहारिक और प्रभावी ढंग से न्यायनिर्णयन किए जाने की आवश्यकता प्रतीत होता है । अमेरिकन न्यायालयों ने अनेक मामलों की सुनवाई के अनुक्रम के दौरान जलयान को सुभिन्न विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रदान करते हुए दोषारोपण और अभिकरण की व्यावहारिक कठिनाइयों को समुद्री दावों के न्यायनिर्णय के प्रयोजनार्थ हल किया ।

इतिहास आवश्यकता और सुविधा

98. ये मताभिव्यक्तियां समुद्री विधि के क्षेत्र के परे भी सत्य हैं । **ब्रिन्ट स्मीथ** ने 'लीगल पर्सनेलिटी' नामक शीर्षक वाले अपने लाभप्रद लेख, जो येल ला जर्नल में 1928 में संप्रकाशित हुआ, में लिखा है कि सामान्यत: अधिकारों और कर्तव्यों के विषय नैसर्गिक व्यक्तियों से संबंधित होते हैं । तथापि, उन्होंने आगे उल्लेख किया कि :–

"………. <u>किन्हीं या अन्य कारणोंवश, यह आवश्यक या</u>

सुविधाजनक हो जाता है कि किसी निर्जीव वस्तु, जैसेकि जलयान या एक से अधिक क्षमता में मनुष्य, जैसेकि न्यासी या संरक्षक या एकल हैसियत में मनुष्यों के किसी संघ, जैसेकि साझेदारी या निगम पर विचार किया जाए । उदाहरणार्थ कोई व्यापारी, जिसने किसी समुद्री यात्रा के लिए आपूर्तियां सुनिश्चित की हैं या जहाज का मालिक, जिसने जलयान का नवीनीकरण किया है, जहाज के स्वामी, जो अधिकारिता के बाहर का निवासी है, तक पहुंच नहीं रखते । स्पष्ट रूप से इस समस्या का हल यह है कि स्वयमेव जलयान से ही संपर्क स्थापित किया जाए, यद्यपि वह जलयान के स्वामी की बाध्यताओं को संतुष्ट करता है । किंतु इस प्रयोजन के लिए अधिकारिता की नई प्रणाली का आविष्कार किए जाने के प्रयोजनार्थ नए स्वरूपों और सिद्धांतों और प्रक्रियाओं पर कार्य करना होगा, जो पेशे की सरलता पर विभिन्न प्रकार के कर आरोपित करते हैं । यह अनुकल्प न्यायाधीशों के लिए है जो किसी जलयान और मनुष्य के मध्य असुसंगत मतभेदों पर अपनी आंखे बंद कर लेते हैं और जलयान को उसी प्रकार से समझते हैं, जैसेकि वह किसी निंदालेख की प्रतिरक्षा के प्रयोजनार्थ कोई मनुष्य हो ।

....

निश्चित रूप से यह सत्य है कि अंतिम रूप से विश्लेषण किए जाने पर मानवीय विषयों के अलावा अन्य विषयों में विधिक व्यक्तित्व के लाभ और भार के परिणामस्वरूप वे मनुष्य अस्तित्व में आते हैं, जो निःसंदेह रूप से वे होते हैं जिनसे ऊपर उद्धृत लेखकों का आशय है । किंतु इस संकल्पना का आत्यंतिक उपयोग, विशिष्ट रूप से निगमित व्यक्तित्व के मामलों में इस तथ्य पर आधारित होता है कि यह इस अंतिम विश्लेषण की आवश्यकता को निराकृत करता है ।

....

किंतु यद्यपि विधिक व्यक्तित्व का कार्य, जैसाकि उद्धरणों से ज्ञात होता है, उस व्यवहार को विनियमित करना है और वह व्यवहार उस विषय पर आचरण को विनियमित किए जाने के लिए

<u>अकेला नहीं है, जिस पर उसको प्रदान किया गया है; यह उस विषय या उस प्रत्येक व्यक्ति के प्रति मनुष्यों के आचरण को भी विनियमित किए जाने के प्रयोजनार्थ । यह किसी विधिक व्यक्ति को जलयान बनाए जाने के समाज के उद्देश्य के अनुकूल होता है</u>, इस कारणवश नहीं कि जलयान का आचरण निश्चित रूप से किसी भी प्रकार से भिन्न होगा, किंतु इस कारणवश कि उसका व्यक्तित्व उसके स्वामी या अन्य मनुष्यों के आचरण के कतिपय विवरणों में नियंत्रित किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रभावी औजार है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

उपरोक्त उद्धरण से **साल्मंड** द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों की पुष्टि होती है कि शरीर (अर्थात् वस्तु) का विकल्प, जिस पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, कड़ाईपूर्वक विधिक सिद्धांत पर आधारित नहीं है बल्कि ऐतिहासिक परिस्थितियों, विधिक आवश्यकता और सुविधा का परिणाम है । ऐतिहासिक परिस्थितियां यह अपेक्षा करती हैं कि न्यायालय विलक्षण तथ्यात्मक स्थितियों का न्यायनिर्णयन करें । अमेरिका की समुद्री विधि में संयुक्त राष्ट्र के उच्चतम न्यायालय पर समुद्री अधिकारिता प्रदान किए जाने के साथ मिलकर समुद्री खोजों में वृद्धि के कारण समुद्री दावों को अंतर्वलित करने वाले मामलों में वृद्धि हुई । वर्तमान में विद्यमान विधि न्यायालय को यह अनुज्ञा प्रदान नहीं करती कि वह ऐसे नए दावों का प्रभावी ढंग से न्यायनिर्णयन करे जिनके कारण अनुचित, बेतुके या विकृत परिणाम सामने आए । इसलिए न्यायालयों द्वारा कानूनी नवाचार का आश्रय लिया गया । **लिंड** और **स्मिथी** दोनों ने ऐसी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला, जो स्वयमेव जलयान – एक जलयान जो अनेक अधिकारिताओं के मध्य यात्रा करता है और जिनके स्वामी उन अधिकारिताओं के अलावा अन्य अधिकारिताओं के निवासी हो सकते हैं, जहां पर उन्होंने कार्य किया और जहां पर जलयान के कार्यान्वयन की उनको अधिक जानकारी या नियंत्रण नहीं था, की विलक्षणता से उद्भूत होते हैं । जलयान को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से जलयान की व्यवहार में परिवर्तन नहीं होता । तथापि, इस संकल्पना ने एक विधिक संकल्पना को सृजित किया, जिसके भीतर नैसर्गिक व्यक्तियों और जलयान के मध्य परस्पर विचार-विमर्श को सामाजिक स्तर पर परिणामों, जो

संतोषप्रद हों और विधि की दृष्टि में सही हो, अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ विनियमित किया जा सकता था ।

99. दोनों ही लेखकों ने उल्लेख किया कि जलयान का विद्‌यमान व्यक्तित्वकरण न्यायालयों से यह अपेक्षा करता है कि वे इस आस्था के प्रति लघु संकल्पना का पालन करे जो न्यायालयों के लिए महत्वपूर्ण विधिक लाभ का परिणाम देने वाली हो । यह बिंदु गुरुत्तर रूप से ऐतिहासिक प्रकृति का है न कि विधिक महत्व का, क्योंकि इस बिंदु के बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि जहां किसी वस्तु का व्यक्तित्वकरण नहीं किया गया है, वहां पर न्यायालय विधिक व्यक्तित्व प्रदान करने से बाधित है । दलील दिए जाने की दृष्टि से राज्य के कार्यों द्‌वारा किसी निगम को स्वतंत्र रूप से विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने में अत्यधिक गुरुत्तर संकल्पनात्मक बिंदु अंतर्वलित होते हैं । फिर भी इस बात की महत्वपूर्ण रूप से उपधारणा की गई और इसने निगमों की विधि में आधारभूत सिद्धांतों में परिवर्तित हुआ है ।

100. विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का एक अन्य कारण भी विद्‌यमान है । इस बाबत उद्देश्य कतिपय हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और कतिपय लाभ प्रदान करते हैं, कुछ उद्देश्यों के मामलों में लाभ तात्विक ही होंगे । लाभ, जो कि शुद्धतः तात्विक हैं, उनके परे भी विस्तारित हो सकते हैं । कोई कृत्रिम विधिक व्यक्ति, चाहे वह कोई जलयान हो चाहे कोई कंपनी, वास्तव में इन लाभों का लाभ नहीं ले सकता । ऐसे लाभों के अंतिम लाभार्थी नैसर्गिक व्यक्ति होते हैं । तथापि, किसी न्यायालय से प्रत्येक मामले में यह अपेक्षा किया जाना कि वह कृत्रिम विधिक व्यक्ति और ऐसे कृत्रिम व्यक्ति से लाभ लेने वाले नैसर्गिक व्यक्तियों के मध्य भिन्नता करे, असामान्य रूप से परेशान करने वाला होगा, विशेष रूप से तब जब मामला निगमों और जलयानों के बढ़ते हुए प्रयोग से संबंधित हो । यह हमको विधिक व्यक्तित्व सुविधा प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ तृतीय तर्काधार की ओर ले जाता है । ऐतिहासिक रूप से वस्तुओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना दावों के व्यावहारिक रूप से न्यायनिर्णयन को सुनिश्चित किए जाने की नीति का शक्तिशाली औजार रहा है । इस अवधारणा में विधिक संकल्पना सृजित किए जाने के द्‌वारा एक नए वर्ग के उत्पन्न होने वाले विवादों के न्यायनिर्णयन के

लिए न्यायालय को आवश्यक औजारों से सुसज्जित कर दिया । न्यायाधीशों को कृत्रिम और नैसर्गिक व्यक्तियों के मध्य भेद, जहां वह सुसंगत नहीं था, करने से छुटकारा दिए जाने के कारण न्यायिक प्रयासों और समय की महत्वपूर्ण रूप से बचत हुई । अतः, विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना विधिक आवश्यकता और सुविधा का औजार था । विधिक व्यक्तित्व मानवीय प्रकृति और मानवीय व्यवहारों को निर्दिष्ट नहीं करते । विधिक व्यक्तित्व विधि की दृष्टि में कतिपय अधिकारों और कर्तव्यों को मान्यता प्रदान किया जाना है कोई वस्तु विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के पश्चात् भी अपनी इच्छा को व्यक्त नहीं कर सकती बल्कि वह कतिपय हितों, अधिकारों या लाभों का प्रतिनिधित्व करती है, जो नैसर्गिक व्यक्तियों को उद्भूत होते हैं । न्यायालय किसी वस्तु को विधि में अनुभव की गई कमियों को दूर किए जाने और व्यावहारिक रूप से उसके न्यायनिर्णयन को सुकर बनाने के प्रयोजनार्थ विधिक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं । विधि कृत्रिम विधिक व्यक्तियों (विधिक व्यक्तित्व से सुसज्जित) के अधिकारों और कर्तव्यों को वर्णित किए जाने के द्वारा आवश्यकता और सुविधा, दोनों पर विचार करता है । न्यायालय अपनी शक्तियों का विस्तार करते हुए विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा नैसर्गिक व्यक्तियों, जो उस व्यक्ति से या उस व्यक्ति द्वारा प्रभावित लाभ अर्जित कर रहे हैं, जिसको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, के दावों का प्रभावी ढंग से न्यायनिर्णयन करते हैं । इस सिद्धांत की तर्कसंगतता यह है कि न्यायालयों द्वारा किसी व्यक्ति को प्रदान किए गए अधिकार उन अधिकारों तक सीमित होते हैं, जो विधि में विद्यमान कमियों को संबोधित किए जाने के लिए आवश्यक होते हैं और प्रभावी ढंग से दावों का न्यायनिर्णयन करते हैं ।

101. इस सिद्धांत को **फिलिप ब्लूमबर्ग** द्वारा संक्षेप में स्पष्ट किया गया है :–

> "विधिक इकाई का प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट अधिकारों और दायित्वों द्वारा विभेदित होने के द्वारा विलक्षण होता है । इसमें वे विधिक विषय सम्मिलित होते हैं, जो व्यक्तियों, समुद्री जलयानों, भौतिक वस्तुओं, भागीदारियों, संघों, विशेष खानों, निधियों, आर्थिक हित समूहों और सरकारी अभिकरणों और साथ ही निगमों और

निगमित समूहों के रूप में भिन्न होते हैं । प्रत्येक मामले में इकाई को विधिक मान्यता की परिधि को चिह्नित किए जाने के प्रयोजनार्थ अधिकारों और दायित्वों का आरोपण उन समस्त तथ्यों को प्रकट करता है, जो समाज संबंधी विधि प्रारूपण को रेखांकित करते हैं: विधि का ऐतिहासिक विकास, परिवर्तनकारी होते मूल्य और हित, सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक शक्तियां और वैचारिक धाराएं ।

अनेक आधारभूत बिंदु भी हैं । प्रथमतः, न तो विधिक अधिकार और न ही विधिक इकाइयां 'वायु में' विद्यमान होते हैं । विधिक अधिकारों को विधिक इकाई, जो उनका प्रयोग कर सकती हो, से संबंधित होना चाहिए । पुनः, विधिक अधिकारों और उत्तरदायित्वों की कोई विस्तृत सूची नहीं हो सकती, जो स्वत: किसी विधिक इकाई के रूप में किसी विशिष्ट विषय पर मान्यता प्रदान किए जाने पर विद्यमानता में आई हो । बिल्कुल इसके विपरीत । यह विशिष्ट अधिकारों और उत्तरदायित्वों (मुख्यत: अधिकारों) - को एक-एक करके मान्यता प्रदान किया जाना - जो विधिक इकाई की न्यायिक रूपरेखा, जिसके लिए उनको सृजित किया गया है, को स्वरूप प्रदान करते हैं ।

जब विधि किसी विशिष्ट अधिकार को मान्यता प्रदान करती है या किसी अनुमान से सिद्ध विधिक इकाई पर कोई विशिष्ट उत्तरदायित्व अधिरोपित करती है, तो यह अधिकार की मान्यता या उत्तरदायित्व का अधिरोपण आरोपण की सीमा तक किसी विधिक इकाई के रूप में मान्यता गठित करती है । अन्य अधिकार और उत्तरदायित्व, इस बात पर निर्भर रहते हुए कि क्या विधि निर्माता के दृष्टिकोण में इकाई को इस प्रकार की मान्यता प्रदान किए जाने पर निर्भर रहते हुए – चाहे वे कानून के निर्माता (विधायक) प्रशासक या न्यायाधीश हों - विद्यमान हो सकते हैं या नहीं हो सकते – उस क्षेत्र में तत्समय प्रवृत्त विधि की अंतर्निहित नीतियों और उद्देश्यों को पूर्ण करेंगे । पुनः, जब समाज परिवर्तित होता है, तब उनको आरोपित विधिक पहचान और उन पर आरोपित विधिक

परिणामों की संकल्पना भी अपरिहार्य रूप से परिवर्तित हो जाती है ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

समस्त विधिक इकाइयां एक समान होती हैं । विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से उन विनिर्दिष्ट अपेक्षाओं की पूर्ति होती है, जो मान्यता को न्यायसंगत ठहराती हो । विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का यह अर्थ नहीं है कि समस्त विधिक अधिकारों को स्वत: प्रदान कर दिया गया है । विधिक व्यक्तित्व के स्वरूप अर्थात् उन अधिकारों और दायित्वों, जिनको उस वस्तु के साथ संलग्न किया गया जिसको न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया, का विनिर्धारण उन विनिर्दिष्ट कारणों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए जिनके लिए वह विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया । नए विधिक व्यक्ति को प्रदान किए गए अधिकारों की सीमा या सीमा-रेखा का मार्गदर्शन विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ कारणों द्वारा किया जाना चाहिए । न्यायिक नवाचार के मापदंडों को उन उद्देश्यों के लिए स्थापित किया गया है, जिनके लिए न्यायाधीश नवाचार करते हैं । इसका उदाहरण यह है कि उन मामलों में जहां न्यायालय निगमित व्यक्तित्व के पर्दे को उठाते हैं, स्वतंत्र विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती । इस सिद्धांत के उपयोजन को इसके सृजन के आधारभूत उद्देश्य को पूर्ण किए जाने की योग्यता के द्वारा परिभाषित किया गया है । विधिक नवाचार तब उदंड हो जाएगा जब न्यायालयों को किसी ऐसी वस्तु को विधिक व्यक्तित्व प्रदान करना पड़े और तत्पश्चात् उस वस्तु के अधिकारों को उस सीमा तक विस्तारित करना पड़े जहां तक बोधगम्य और व्यावहारिक न्यायनिर्णयन का मूल उद्देश्य विफल हो जाए । इस समझ के साथ यह आवश्यक है कि हिंदू देवताओं के संबंध में इन सिद्धांतों के उपयोजन पर विचार किया जाए ।

हिंदू प्रतिमा और देवत्व

102. आरंभिकत:, इस बात को समझा जाना महत्वपूर्ण है कि

---

[1] फिलिप्स ब्लूमबर्ग द्वारा लिखित 'द मल्टीनेशनल चैलेंज टु कारपोरेशन ला' (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993) पृष्ठ 207.

किसी हिंदू प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना स्वयमेव देवत्व, जिसको हिंदू धर्म में बहुधा 'परमात्मा' समझा जाता है, को ही विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना नहीं है । परमात्मा को उसके स्वरूप और आकार के आधार पर परिभाषित किया जाता है, फिर भी उसकी उपस्थिति सार्वलौकिक है । हिंदू विन्यास की विधि में और वर्तमान कार्यवाहियों में बहुधा यह अभिकथित किया गया है कि विधिक व्यक्तित्व को 'देवता के पीछे के प्रयोजन' को प्रदान किया जाता है । वर्तमान निर्णय इस कथन के यथासत्य विधिक महत्व का उल्लेख करेगा । वर्तमान में यह उल्लेख किया जाना पर्याप्त होगा कि विधिक व्यक्तित्व स्वयमेव 'परमात्मा' को प्रदान नहीं किया जाता । जैसाकि इस न्यायालय द्वारा **राम जानकीजी डीटीज़** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में मताभिव्यक्ति की है :–

> "19. ईश्वर सर्वशक्तिमान है और सर्वज्ञ है और उसकी उपस्थिति को किसी विशिष्ट स्वरूप या छवि के कारणवश महसूस नहीं किया जाता बल्कि सर्वशक्तिमान की उपस्थिति के कारणवश महसूस किया जाता है । <u>वह निराकार है, उसका कोई आकार नहीं है और यह उपासनाकर्ता के लाभ के लिए है कि परमात्मा की छवि का प्रकटीकरण किया जाए</u> । परमात्मा का कोई गुण नहीं है, उसमें शुद्ध भावना समाविष्ट होती है और यह भावना समाविष्ट होती है कि उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं अर्थात् ईश्वर एक मात्र शक्ति है जो वास्तव में विद्यमान है, उसके अलावा वास्तव में कोई अन्य शक्ति विद्यमान नहीं है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

103. वर्ष 1991 में इंग्लिश अपील न्यायालय से **बम्पर डेवलपमेंट कारपोरेशन लिमिटेड** बनाम **कमिश्नर आफ पुलिस आफ द मेट्रोपुलिस**[2] वाले मामले में यह इस प्रश्न को निर्णीत किए जाने की अपेक्षा की गई थी कि क्या किसी हिंदू मंदिर और किसी हिंदू देवता के विरुद्ध न्यायालय में वाद फाइल किया जा सकता है । वर्ष 1976 में एक भारतीय मजदूर

---

[1] (1999) 5 एस. सी. सी. 50.

[2] [1991] 1 डब्ल्यू. एल. आर. 1362 (2).

ने तमिलनाडु के पाथुर नामक स्थान पर 'शिव नटराज' की खोज की, जिसको बाद में मजदूर ने धार्मिक कलाकृतियों के एक डीलर को बेच दिया । तत्पश्चात् एक 'शिवलिंग' के साथ एक अन्य कलाकृति पाई गई और उनको पाथुर के मंदिर में पुन: स्थापित कर दिया गया । 1982 में **बम्पर डेवलपमेंट कारपोरेशन** (उपरोक्त) ने लंदन में एक डीलर, जिसने विक्रय के प्रयोजनार्थ शिव नटराज की प्रतिमा के प्राप्ति के स्थान पर असत्य प्रमाणपत्र प्रस्तुत किया था, से सद्भावनापूर्वक 'शिव नटराज' को क्रय कर लिया । तत्पश्चात् शिव नटराज की प्रतिमा को मैट्रोपोलिटन पुलिस द्वारा बरामद कर लिया गया । विचारण के समय 'न्यायिक व्यक्तियों के रूप में' पाथुर मंदिर और शिवलिंगम के साथ-साथ भारत सरकार और तमिलनाडु सरकार ने मध्यक्षेप किया । अपील न्यायालय ने इंग्लिश न्यायालयों में विदेशी विधि पर विस्तारपूर्वक बहस सुनी । तथापि, इंग्लिश न्यायालय ने विधिक अस्तित्व के रूप में पाथुर मंदिर द्वारा प्रस्तुत किए गए दावे की पोषणीयता का मूल्यांकन करते हुए निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की :–

> "(1) <u>न तो ईश्वर न ही कोई अलौकिक व्यक्ति विधि की दृष्टि में व्यक्ति हो सकता है</u> । इस कथन की सत्यता का एक व्यावहारिक उदाहरण यह है कि यदि विन्यास किसी अलौकिक व्यक्ति की भांति ईश्वर में निहित होती है, तो विभिन्न मंदिरों के मध्य उनके अपने-अपने अधिकारों के संबंध में मुकदमेबाजी असंभव होगी । किसी भी स्थिति में एक ही 'व्यक्ति' वादी और प्रतिवादी, दोनों होगा चूंकि जैसाकि डाक्टर मुखर्जी ने कहा है, समस्त हिंदू एक ही परमात्मा की उपासना करते हैं । भारत में मंदिरों के मध्य अत्यधिक मुकदमेबाजी, यह स्पष्टतया इस रोमांच के परे है ।
>
> ....
>
> (4) <u>किसी न्यायिक व्यक्ति को पहचान के योग्य होना चाहिए । यह इस बात की आवश्यकता पर बल देता है कि 'व्यक्ति' का कोई नाम या वर्णन होता है</u> । <u>चूंकि प्रत्येक हिंदू देवता की प्रतिमा एक ही परमात्मा का प्रकटीकरण है, इसलिए लोगों को पहचान के लिए ईश्वर के नाम के बजाय अन्यत्र नहीं देखना चाहिए</u> । पाथुर के मंदिर का शीर्षक उसको स्थापित करने वालों के नाम से जाना

जाता है ; और ऐसा प्रतीत होता है कि यह तमिलनाडु में प्रचलित रिवाज है । इसलिए किसी भी प्रतिमा को व्यावहारिक रूप से उस मंदिर के नाम के साथ संबद्ध किए जाने के द्वारा निर्दिष्ट किया जाना चाहिए, जिसमें वह स्थापित है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

104. हिंदू धर्म में परमात्मा को ब्रह्मांड के प्रत्येक पहलू में विद्यमान माना जाता है । परमात्मा सर्वव्यापी हैं । विधिक व्यक्ति का विचार विधिक प्रणाली के 'विषयों की पहचान' की आवश्यकता पर आधारित होता है । किसी सर्वव्यापी शक्ति की किसी भी प्रकार से पहचान नहीं की जा सकती या उसको चित्रित नहीं किया जा सकता जिससे कि विधि में उसका कोई अर्थ निकाला जा सके और इससे कोई भी पहचान योग्य विधिक विषय प्रकट नहीं होगा । यह समझ इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चयों में भी प्रकट होती है । **योगेन्द्रनाथ नास्कर** बनाम **आयकर आयुक्त, कलकत्ता**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ से इस प्रश्न का विनिर्धारण किए जाने की अपेक्षा की गई थी कि क्या हिंदू देवता (या 'प्रतिमा') 1922 के आयकर अधिनियम की धारा 3 के अधीन 'व्यक्ति' की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं । न्यायमूर्ति वी. रामास्वामी ने तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की तरफ से निर्णय पारित करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

"महान दार्शनिक शंकर ने एक वास्तविकता को निर्दिष्ट किया है, जिसको पारंपरिक रूप से बुद्धिमान लोगों (मतभेद) की विविधता के कारण विभिन्न रीतियों में (परिकल्प्य) बोला जाता है, जैसेकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश । <u>तथापि, यह संभव है कि विन्यास के संस्थापक या पुजारी इस उच्चतम आध्यात्मिक योजना पर विचार न कर सके, किंतु वे यह अभिनिर्धारित कर सकते हैं कि प्रतिमा व्यक्तिगत ईश्वर का आत्यंतिक रूप से मूर्त रूप होती है, किंतु यह कोई ऐसा मामला नहीं है जिसके साथ विधिसम्मत हो । न तो ईश्वर और न ही कोई आलौकिक व्यक्ति विधि की दृष्टि में व्यक्ति</u>

[1] (1969) 1 एस. सी. सी. 555.

<u>हो सकता है</u> । किंतु जहां तक देवता का संबंध है, वह प्रतिनिधि और किसी विशेष प्रयोजन के प्रतीक के रूप में उपस्थित होते हैं, जिसको दानदाता द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, इसलिए उनको विधिक व्यक्ति के रूप में पहचान प्रदान की जा सकती है । इस बाबत सत्य विधिक विचार यह है कि केवल हैसियत के आधार पर ही समर्पित संपत्ति उसमें निहित होती है । इस बाबत कोई सिद्धांत नहीं है कि किसी देवता पर किसी विधिक व्यक्ति के रूप में कराधान क्यों किया जाना चाहिए, यदि ऐसे विधिक व्यक्ति को यद्यपि आदर्श भाव में विधि में संपत्ति का स्वामित्व रखने की और संपत्ति के बाबत मुकदमा फाइल करने की, किराया वसूल करने की और उस संपत्ति के बाबत विधि के न्यायालय में प्रतिरक्षा करने की अनुज्ञा प्राप्त है । हमारा निष्कर्ष यह है कि हिंदू प्रतिमा न्यायिक अस्तित्व होती है, जो उसके शिबायत, जिस पर उसकी संपत्ति के कब्जे और प्रबंधन का दायित्व होता है, के माध्यम से संपत्ति धारण करने और कराधान के समर्थ होती है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

विधिक व्यक्तित्व को परमात्मा का दर्जा प्रदान नहीं किया जाता । परमात्मा की कोई भौतिक उपस्थिति नहीं होती चूंकि उसकी उपस्थिति को – उसके स्वयं होने के आधार पर सर्वव्यापी समझा जाता है । न्यायालय देवत्व के आधार पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान नहीं करते । हिंदू दर्शन में देवत्व निर्बाध, सार्वभौमिक और अनंत होता है । देवत्व सार्वभौमिकता के प्रत्येक पहलू पर अभिभावी होता है । देवत्व की विशेषता यह होती है कि वह वर्णन की अवहेलना करती है और सीमाओं के संदर्भ के साथ उसको परिभाषित न किए जाने के प्रयोजनार्थ बुनियादी आधार प्रस्तुत करती है । इस कारणवश कि वह सर्वव्यापी है, इसका विभेद करना वहां पर असंभव होगा जहां एक विधिक अस्तित्व समाप्त होता है और दूसरा आरंभ होता है । विधि की संकीर्ण सीमाएं इस प्रकार के अभ्यास में अंतर्वलित होने के प्रयोजनार्थ अनुचित हैं और यही वह कारण है कि विधि में इस प्रकार के दृष्टिकोण को अंगीकृत किए जाने से रोके । हिंदुत्व, परमात्मा का भौतिक रूप से प्रदर्शन प्रतिमाओं के स्वरूप में विद्यमान होता है, जो उपासना करने वालों को निराकार के अनुभव

की अनुज्ञा प्रदान करता है । प्रतिमा परमात्मा की प्रतिनिधि होती है । परमात्मा का भौतिक स्वरूप धारण करने के द्वारा प्रतिमा पहचान योग्य हो जाती है ।

105. हिंदू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ अंगीकृत की गई पद्धति का अन्वेषण और उनको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का कारण आवश्यक होता है । मुख्य न्यायमूर्ति बी. के. मुखर्जी द्वारा लिखी गई 'द हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चेरिटेबल ट्रस्ट' नामक पुस्तक में इस विषय पर हमारी विधि के प्रादुर्भाव को समझे जाने में समय-सीमा के परे कालातीत गुणवत्ता को प्रदर्शित किया गया है । न्यायमूर्ति मुखर्जी ने उल्लेख किया कि न्यायालयों द्वारा धार्मिक विन्यास की हिंदू प्रथा को विनियमित किए जाने के पूर्व धार्मिक प्रयोजनों के लिए समर्पित संपत्तियों को विनियमित किए जाने में स्पष्ट लोक प्रयोजन के परिणामस्वरूप वह प्रथा अस्तित्व में आई जिसका विनियमन वर्तमान शासकों द्वारा किया जाता है । उन्होंने अभिकथित किया :–

> "1.36 .... तथापि, यह प्रतीत होता है कि इस देश में अति-प्राचीनकाल से ही धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाएं शासकों के विशेष संरक्षण के अंतर्गत आ गई थीं । प्रसिद्ध रामेश्वर पगोडा वाले मामले में न्यायिक समिति द्वारा यह उल्लेख किया गया था कि <u>इस देश के पूर्ववर्ती शासकों ने इस प्रकार की विन्यास के प्रबंधन के अधिकार पर सदैव जोर दिया ताकि उनके प्रबंधन के दुरुपयोग को रोका जा सके और उसके विरुद्ध शिकायतों का निस्तारण किया जा सके</u> । 'इस बाबत अत्यधिक कम मात्रा में शंका हो सकती है' अत: माननीय न्यायाधीशों द्वारा यह मताभिव्यक्ति की गई 'कि पुराने शासकों द्वारा अधीक्षण के प्राधिकार का प्रयोग किया गया था' । **श्री नेल्सन** ने अपने मदुरा मैनुअल में कहा है – '........ धर्मकर्ताओं ने आयोजन किया लेकिन इसकी सूचना अत्यधिक कम लोगों को दी गई और उन्होंने संसार में मौजूद किसी भी वरिष्ठजन को मान्यता प्रदान नहीं की सिवाय स्वयमेव सम्राट के । प्रत्येक धर्मकर्ता समस्त नियंत्रणों से स्वतंत्र था और उसने बिल्कुल वही कार्य किया जो वह करना चाहता था । <u>इस स्वतंत्रता के कारण नैसर्गिक रूप से</u>

> घोर दुरुपयोग हुए और सम्राट को कुछ चर्चों के प्रबंधन में हस्तक्षेप करने के लिए समय-समय पर विवश होना पडा ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

106. गौतम पटेल ने वर्ष 2010 में प्रकाशित एक लेखांश में **इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली** में बंदोबस्तियों के ऐतिहासिक विकास को रेखांकित किया है । उन्होंने प्रतिमाओं को व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के कारणों का उल्लेख किया है :–

> "सम्राटों और शासकों ने नियमित रूप से हिंदू तीर्थस्थानों को स्थापित किए जाने, उनकी मरम्मत और रखरखाव के लिए संपत्ति और नकदी का दान किया है । जब मंदिर को भूमि प्रदान की जाती थी, तो वह सनद या अनुदान या फरमान के स्वरूप में होती थी । उदाहरण स्वरूप **नाथद्वारा** के मंदिर में श्रीनाथजी के बारे में यह कहा जाता है कि उनको सम्राट अकबर से फरमान प्राप्त हुआ था । इस स्थिति में सुव्यवस्था और दस्तावेजों के साथ औपनिवेशिक जुनून को ध्यान में रखते हुए एक समस्या उत्पन्न हो गई – शिबायतों और महंतों के स्वामित्व में बडी मात्रा में भूमि थी, जो उनके द्वारा प्रबंधित थी और कृषि योग्य थी, यद्यपि वे भूमि के स्वामी नहीं थे । मंदिर अपनी प्रकृति के कारण लचीला व्यवहार अपनाते थे और विकास और परिवर्तन के लिए तत्पर रहते थे । मंदिर में स्थापित अस्तित्व स्थायित्व की प्रकृति के साथ प्रतिमा थी और इसी कारणवश यह उपधारणा की जाती है कि न्यायिक अस्तित्व के रूप में हिंदू प्रतिमा की विधिक संकल्पना भूमि का स्वामित्व धारण करने के सक्षम थी । इसका कारण शुद्धतः राजकोष से संबंधित था – इस समस्त भूमि का सर्वेक्षण किया जाता था और उसका स्वामित्व अभिनिश्चित किया जाता था और तत्पश्चात् भू-राजस्व और अन्य करों का निर्धारण किया जाता था (या उस भूमि को भू-राजस्व से छूट प्रदान की जाती थी) । किंतु भूमि का स्वामित्व सदैव ही – फरमान, सनद या अन्य लिखत जो असंदिग्ध

---

[1] बी. के. मुखर्जी द्वारा लिखित 'द हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चेरिटेबल ट्रस्ट', पांचवां संस्करण, ईस्टर्न ला हाऊस (1983) पृष्ठ 28.

रूप से प्रतिमा को भूमि का समर्पण दर्शित करती थी, दान दिए जाने के सकारात्मक कार्य पर आधारित था ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

विधि की दृष्टि में एक अस्तित्व के रूप में प्रतिमा को मान्यता प्रदान किए जाने के कारण कुदरती तौर पर उन ऐतिहासिक परिस्थितियों से बंधे हुए हैं, जिनमें मान्यता प्रदान की गई थी । भारत में व्यक्तियों, व्यापारियों और शासकों द्‌वारा धार्मिक बंदोबस्तियों को स्थापित किया जाना अत्यंत प्राचीन प्रथा । तथापि, भारत में साम्राज्यवादी प्रशासन के दौरान तत्समय प्रवृत्त इंग्लिश विधि में उस विधिक अवसंरचना का अभाव था जिसके अंतर्गत हिंदू धार्मिक बंदोबस्तियों के संबंध में उत्पन्न हुए दावों को अभिलिखित, कराधान और अंततः न्यायनिर्णयन किया जाना था । समर्पित की गई संपत्तियों के मूल्य बढ़ने के साथ विवाद उद्भूत हुए । संपूर्ण देश में न्यायालयों की स्थापना के साथ ही उन दावों में वृद्धि हुई, जिनका न्यायनिर्णयन बंदोबस्तियों, प्रतिमाओं और नवोदित संपत्तियों से संबंधित दावों के संबंध में किया जाना था ।

ञ.2 प्रतिमाएं और न्यायिक व्यक्तित्व

107. भारत में इंग्लिश और भारतीय न्यायाधीशों से हिंदू प्रतिमाओं की विधिक लक्षणों और उनके साथ सहबद्ध संपत्तियों को विनिर्धारित किए जाने की अपेक्षा की गई थी । **मनोहर गणेश ताम्बेकर** बनाम **लक्ष्मीराम गोविंदराम**[2] वाले मामले में वादी डाकोर के मंदिर की धार्मिक स्थापना में हितबद्ध थे और प्रतिवादी मंदिर के चढ़ावे के प्राप्तकर्ता थे । वादी की प्रार्थना यह थी कि न्यायालय मंदिर में चढ़ाए जा रहे चढ़ावे के जवाबदेह निपटान के लिए रिसीवर नियुक्त करें । इसके विपरीत प्रतिवादियों ने यह निवेदन किया कि मंदिर में चढ़ाया जा रहा चढ़ावा उनका आत्यंतिक और पंथ निरपेक्ष चढ़ावा था । बाम्बे उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया, जिनमें यह मामला उद्भूत हुआ था और हिंदू प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान

---

[1] गौतम पटेल द्‌वारा लिखित 'आईडल्स इन ला' खंड 45, संख्या 50, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली (11 से 17 दिसंबर, 2010) पृष्ठ 49.

[2] आई. एल. आर. (1888) 12 बॉम्बे 247.

किए जाने की आवश्यकता पर विचार किया । न्यायमूर्ति आर. वेस्ट ने यह मताभिव्यक्ति की :–

> "अनेक सदियों की अवधि से मंदिर का राजस्व उसकी सेवाओं के लिए बनाए रखे जाने के लिए अपेक्षित राजस्व से थोड़ा अधिक रहा है, किंतु हाल ही में इस राजस्व में काफी हद तक वृद्धि हुई है । वह विधि जो बाहरी हिंसा के विरुद्ध बुनियादी रूप से संरक्षण प्रदान करती है, आंतरिक रूप से कुप्रशासन के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करती है और संस्था के कैंद्रीय सिद्धांत के सामंजस्य में, इसके संवर्धित धन के उपयोग को विनियमित करती है ।"

108. न्यायालयों द्वारा मंदिरों और प्रतिमाओं को संपत्तियां समर्पित करने की हिंदू प्रथा का न्यायनिर्णयन सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में किया गया । यह सिद्धांत कि हिंदू प्रतिमाएं पृथक् विधिक व्यक्तित्व धारण करती हैं, को भारत में इंग्लिश न्यायाधीशों, जो धार्मिक बंदोबस्तियों के प्रयोजनार्थ हिंदू विधि लागू करने का कार्य कर रहे थे, द्वारा अपनाया गया था । उस काल में संपत्तियों से संबंधित विवाद उद्भूत होते थे, जिनमें संपत्तियों के स्वामियों से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता था । उस काल में विधिक संरक्षण के विषयों के रूप में दो स्पष्ट हितों को मान्यता प्रदान की गई थी । प्रथम हित यह था कि जहां किसी विशिष्ट पवित्र प्रयोजन के लिए भूमि का बंदोबस्त किया जाता था, शिबायतों (अर्थात् प्रबंधकों) द्वारा कुप्रबंधन की संभाव्यता वास्तव में विद्यमान थी चूंकि किसी विशिष्ट पवित्र प्रयोजन के लिए विन्यास के माध्यम से उपलब्ध कराई गई भूमि, सामान्यत: प्रतिमा के पूजन के लिए, का अत्यधिक कुप्रबंधन किया जाता था या यहां तक कि अन्यसंक्रामित भी कर दिया जाता था । द्वितीयत:, जहां भूमि जनता द्वारा पूजन के लिए समर्पित की जाती थी, वहां पर यह आशंका विद्यमान होती थी कि जनता को, विशेष रूप से भक्तों को भूमि तक पहुंच पाने से रोक दिया जाएगा या उनको अन्य धार्मिक लाभ प्रदान किए जाने से इनकार कर दिया जाएगा । जहां विन्यास का मूल संस्थापक जीवित नहीं था और शिबायत भूमि का स्वामी नहीं था, वहां पर न्यायालयों द्वारा (और वह भी न्यायालयों के माध्यम से राज्य द्वारा) मूल समर्पण को प्रभावी किस प्रकार से किया जा सकता था ?

न्यायालयों ने वह संकल्पनात्मक रूपरेखा प्रदान किए जाने, जिसके भीतर वे विन्यास वाली संपत्तियों पर किए गए परस्पर विरोधी दावों को अंतर्वलित करने वाले विवादों का विश्लेषण कर सके और उनका व्यावहारिक रूप से न्यायनिर्णयन कर सके, के प्रयोजनार्थ हिंदू प्रतिमा के विधिक व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान की । यह एक विधिक आविष्कार था, जिसकी आवश्यकता ऐतिहासिक परिस्थितियों, विद्यमान विधि में अंतर और सुविधा के विचार के कारण उत्पन्न हुई । इसका लाभ यह हुआ कि एक ऐसी वस्तु को विधिक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया, जो लंबी अवधि से हिंदुत्व के भीतर व्यक्तित्वकरण की विषयवस्तु रही थी । इस प्रकार से प्रदान किए गए विधिक व्यक्तित्व की सटीक रूपरेखा, वर्तमान मामले, जिससे यह निर्णय उद्भूत हो रहा है, में सुसंगत है ।

109. न्यायालयों को हिंदू प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की प्रेरणा रोमन विधि में तथ्यात्मक समानताओं से मिली । न्यायमूर्ति बी. के. मुखर्जी ने इस स्थिति को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया :–

> "... पांचवीं शताब्दी और उसके पश्चात् – व्यक्तियों द्वारा सृजित किए गए प्रतिष्ठानों को सत्य विधिक भाव में प्रतिष्ठानों के रूप में मान्यता प्रदान की गई किंतु केवल उन्हीं प्रतिष्ठानों को जिन्होंने पिया काज़ा स्वरूप धारण कर लिया था अर्थात् जो केवल 'पवित्र कार्यों' को समर्पित थे, संक्षेप में यदि वे प्रतिष्ठान धर्मार्थ संस्थाएं थीं । <u>जब कभी भी कोई व्यक्ति अपनी संपत्ति को जीवित व्यक्तियों के मध्य दान द्वारा या वसीयत द्वारा किसी निर्धन या रुग्ण या कैदी या अनाथ या वृद्ध व्यक्ति के पक्ष में समर्पित करता था, तो वह तद्द्वारा जीवित व्यक्तियों के मध्य विधिक अधिकारों के एक नए विषय का सृजन कर देता था</u> – जैसेकि निर्धन गृह, चिकित्सालय और अन्य समर्पित संपत्ति नए विषय के अंतर्गत एकल संपत्ति बन जाती थी – <u>वह संपत्ति नए विधिक व्यक्ति, जिसको उस प्रतिष्ठान को स्थापित करने वाला अस्तित्व में लाया की संपत्ति बन जाती थी</u> ।
>
> ....

1. ... कोई निजी व्यक्ति विरासत या दान के माध्यम से किसी संपत्ति को किसी ऐसे निगम को प्रदान कर सकता था, जो पहले से अस्तित्व में था और तत्समय उस विशिष्ट प्रयोजन को भी विहित कर सकता था, जिसके लिए संपत्ति को प्रदान किया जाना था अर्थात् गरीबों के लिए आहार या रुग्ण या संकटग्रस्त व्यक्ति को आश्रय प्रदान करना । प्राप्तकर्ता निगम न्यासी की स्थिति में होता था और वह निधियों को विधिक रूप से किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए व्यय करने के लिए बाध्य होता था । अन्य आनुकल्पिक प्रयोजन यह था कि स्वयमेव दानदाता के लिए ही कोई संस्था या प्रतिष्ठान सृजित किया जाए । यह एक नया विधिक व्यक्ति होगा, जो किसी अन्य पर नहीं बल्कि प्रतिष्ठान को स्थापित करने वाले की इच्छा पर स्वयं अपने अस्तित्व पर निर्भर होगा, परंतु यह तब जबकि उसको पूर्त प्रयोजन के लिए निर्देशित किया गया था । समर्पित संपत्ति का स्वामी प्रतिष्ठान होगा और उसके प्रशासक न्यासी होंगे जो प्रतिष्ठान के उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए बाध्य होंगे ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

110. **मनोहर गणेश ताम्बेकर** (उपरोक्त) वाले मामले में बॉम्बे उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने उस तर्काधार प्रक्रिया का उल्लेख किया जिसके द्वारा हिंदू प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है । न्यायमूर्ति वेस्ट ने यह मताभिव्यक्ति की :-

"हिंदू विधि द्वारा रोमन विधि और उन विधियों की भांति जिन्होंने रोमन विधि से सिद्धांत प्राप्त किए, न केवल व्यक्तिगत सदस्यों के अलावा निगम में निहित संपत्ति के अधिकारों के साथ निगमित निकायों को मान्यता प्रदान की, बल्कि न्यायिक व्यक्तियों या उन विषयवस्तुओं, जिन्हें प्रतिष्ठान कहा जाता, को भी मान्यता प्रदान की । कोई हिंदू, जो धार्मिक या पूर्त उद्देश्यों के लिए संस्था स्थापित करना चाहता है, विधि के अनुसार अपने प्रयोजन और

[1] बी. के. मुखर्जी द्वारा लिखित 'द हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चेरिटेबल ट्रस्ट', पांचवां संस्करण, ईस्टर्न ला हाऊस (1983) पृष्ठ 9.

विन्यास को अभिव्यक्त कर सकता और शासक इस उदारता को प्रभावी करेगा .... न्यास इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित नहीं होता - वास्तव में ऐसे मामले में किसी न्यास की आवश्यकता विलक्षण होती है और इंग्लिश विधि में आधुनिक विलक्षण होती है । प्राचीन काल में किसी दान को, जैसाकि उसको अभिव्यक्त किया जाता था, 'चर्च को पर्याप्त रूप से ईश्वर के गर्भगृह के स्थान पर समर्पित की गई भूमि को सौंपा' ।

....

इस प्रकार का व्यावहारिक यथार्थवाद विधि के क्षेत्र तक सीमित नहीं है; इसका प्रयोग व्यापारियों द्वारा उनके लेखा में भी किया जाता है और किसी संस्था के आदर्श केंद्र प्रस्तुत किए जाने के द्वारा आवश्यक मानवीय विशेषताएं बताई गई हैं । ...किंतु यदि कोई न्यायिक व्यक्ति उपस्थित है, तो प्रतिष्ठान के केंद्र के रूप में किसी पवित्र और परोपकारी विचार का आदर्श मूर्त रूप के रूप में अधिकार का यह कृत्रिम विषय नकद और जेवरातों का चढ़ावा लिए जाने के लिए उतना समर्थ है, जितना कि भूमि का चढ़ावा । जो लोग किसी प्रकार की संपत्ति का भौतिक कब्जा प्राप्त कर लेते हैं, उस संपत्ति के साथ-साथ प्रतिष्ठान के प्रयोजनों के लिए उस संपत्ति के सम्यक् रूप से उपयोग का उत्तरदायित्व भी प्राप्त कर लेते हैं ।

....

विधि जो बाहरी हिंसा के प्रति प्रतिष्ठानों को संरक्षण प्रदान करती है, उस प्रतिष्ठान को आंतरिक कुप्रबंधन के प्रति भी संरक्षण प्रदान करती है और संवर्धित निधियों के प्रयोग को संस्था के केंद्रीय सिद्धांत के पुष्टिकरण में विनियमित करती है । यह केवल समुदाय के सामान्य हितों में इस नियंत्रण के अध्यधीन है कि राज्य विधि न्यायालयों के माध्यम से किसी कृत्रिम व्यक्ति को मान्यता प्रदान करता है । यह संपत्ति और अधिकारों को समर्पित संपत्ति और अधिकारों की भांति संरक्षण प्रदान करता है और इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि वह संपत्ति और अधिकार केवल किसी

> विशिष्ट अनुज्ञप्त प्रयोजन के उपयोजन में फेरफार की शर्त के अंतर्गत समर्पित होते हैं, जब या तो प्रयोजन अव्यवहारिक, अनुपयोगी या हानिकर हो गया हो या निधियों द्वारा असामान्य उपायों का आश्रय लिया गया हो ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

111. **मनोहर गणेश ताम्बेकर** (उपरोक्त) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय में यह उपदर्शित किया गया है कि किसी धार्मिक या पूर्त उद्देश्य की अभिव्यक्ति और विन्यास को प्रभावी किए जाने के प्रयोजनार्थ उसका सृजन पर्याप्त था । जैसेकि इंग्लिश विधि में होता है, किसी न्यास का सृजन आवश्यक नहीं था । विन्यास के सृजन के परिणामस्वरूप कृत्रिम विधिक व्यक्ति का सृजन हुआ । कृत्रिम या न्यायिक व्यक्ति किसी पवित्र या परोपकारी उद्देश्य का उसके निर्माण के अंतर्गत प्रतिनिधित्व करते हैं या उसको समाविष्ट करते हैं । विधिक व्यक्तितत्व बंदोबस्त करने वाले किसी व्यक्ति के पवित्र प्रयोजन को प्रदान किया जाता है । जहां किसी प्रतिमा को बंदोबस्त प्रदान किया जाता है, वह प्रतिमा विधिक व्यक्ति के तात्विक प्रतिनिधित्व का स्वरूप धारण कर लेती है । यह न्यायिक व्यक्ति (अर्थात् वह पवित्र उद्देश्य जिसका प्रतिनिधित्व प्रतिमा द्वारा किया जाता है) विधि की दृष्टि में चल और अचल संपत्ति का चढ़ावा स्वीकार कर सकती है, जो उसमें निहित होगा । किसी प्रतिमा का विधिक व्यक्तितत्व और बंदोबस्त की गई संपत्ति के ऊपर उन मानवीय अभिकरणों, जिनको प्रतिमा के अधिकार और भक्तों द्वारा चढ़ाए गए चढ़ावे के प्रबंधन के लिए प्रतिमा के दिन-प्रतिदिन के प्रबंधन द्वारा कुप्रबंधन के विरुद्ध विन्यास को संरक्षण प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ विधि द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता है ।

112. **मनोहर गणेश ताम्बेकर** (उपरोक्त) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के कुछ समय पश्चात् मद्रास उच्च न्यायालय से एक मठ के प्रधान की नियुक्ति के संबंध में विवाद निर्णीत किए जाने की अपेक्षा की गई थी । **विद्यापूर्णा तीर्थ स्वामी** बनाम **विद्यानिधि तीर्थ स्वामी**[1] वाले मामले में खंड न्यायपीठ ने विस्तारपूर्वक प्रतिमाओं, मंदिरों और मठों की

[1] आई. एल. आर. (1904) 27 मद्रास 435.

विधिक प्रकृति का परीक्षण किया । इसके मामले में **न्यायमूर्ति बी. अय्यंगर** ने मताभिव्यक्ति की :–

"जैसाकि पहले कहा गया है दर्शनार्थी केवल आध्यात्मिक भाव में लाभार्थी होते हैं और प्राथमिक रूप से विन्यास को स्वयमेव ही आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए आशयित किया गया है, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से और आनुषंगिक रूप से बड़ी संख्या में लोग उनसे पदाधिकारी, सेवकों या पूर्त उद्देश्यों के रूप में तात्विक और धनीय लाभ प्राप्त करते हैं । ...इस प्रश्न पर विचार किए जाने का न तो सुझाव दिया गया और न ही विचार किया गया कि क्या समुदाय स्वयमेव, जिसके आध्यात्मिक लाभ के लिए संस्था को स्थापित किया गया और उसकी विन्यास की गई, को अधिक समुचित रूप से निगमित निकाय, जो न्यायिक व्यक्ति का स्वरूप धारण करता है और जिसमें संस्था की संपत्तियां निहित होती हैं और जो एक या अधिक नैसर्गिक व्यक्तियों के माध्यम से कार्य करते हैं और निगमित निकाय सृजित करते हैं, नहीं माना जाना चाहिए, ये निगमित निकाय धर्मकर्ता या पंचायत होने के नाते संस्था के न्यासों के निष्पादन के भारसाधक होते हैं और कड़ाईपूर्वक बंदोबस्तियों को अन्य संक्रामित करने की सीमित शक्ति धारण करते हैं, जैसाकि ऊपर उद्धृत मामलों में परिभाषित किया गया है । यद्यपि लोगों के उतार-चढ़ाव वाले और अनिश्चित निकाय किसी अन्य की भूमि पर लाभ लेने के लिए दावा नहीं कर सकते और न ही किसी प्रकार की वास्तविक संपत्ति के अनुदानगृहीता बन सकते हैं (देखें गुडमैन **बनाम** मेयर ऑफ सल्ताश), फिर भी ऐसे समुदाय से व्यवहार करने के लिए एक उच्च प्राधिकारी होता है जैसेकि निगम या धार्मिक संस्थान और बंदोबस्तियों के संबंध में न्यायिक व्यक्ति ।

....

तथापि, समस्त व्यावहारिक परियोजनों को ध्यान में रखते हुए यह महत्वहीन होगा कि क्या प्रधान प्रतिमा या उपासकों के समुदाय को निगम या विधिक व्यक्ति, जिसमें संपत्तियां निहित होती हैं, माना जा सकता है यद्यपि विधिक दृष्टिकोण से इस बाबत मतभेद

> जो हो सकते हैं कि कौनसा सिद्धांत अधिक वैज्ञानिक है । न्यायशास्त्र [**सालमंड** द्वारा लिखित 'न्यायशास्त्र' (1902), पृष्ठ 346] के नवीनतम लेखक के शब्दों में 'वह शरीर, जिसमें विधि सांस लेगी, एक काल्पनिक व्यक्तित्व में सांस लेगी, सार के बजाय स्वरूप का मामला है' विधिक सिद्धांत के बजाय स्पष्ट और सारगर्भित अभिव्यक्ति का मामला है ।, ... "

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

न्यायालयों द्वारा विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का प्रयोजन विधि में कमियों को पूर्ण करना है और सामाजिक रूप से संतोषजनक और विधिक रूप से सही परिणामों को सुनिश्चित करना है । न्यायमूर्ति अय्यंगर ने मताभिव्यक्ति की है कि सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण किसी हित, जिसका संरक्षण प्रतिमा को न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा किया जाना ईप्सित है, उपासकों के हितों का संरक्षण था । न्यायमूर्ति अय्यंगर ने उल्लेख किया कि ऐसा संरक्षण उपासकों को सामूहिक रूप से न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा भी अभिप्राप्त किया जा सकता है । तथापि, उन्होंने प्रतिमा का व्यापक रूप से व्यक्तित्वकरण प्रदान किए जाने को ध्यान में रखते हुए अभिनिर्धारित किया कि न्यायिक व्यक्तित्व व्यावहारिकता और सुविधा के विचारणों के आधार प्रतिमा में निहित होना चाहिए ।

113. **भूपति नाथ स्मृतितीर्थ** बनाम **रामलाल मैत्रा**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ का गठन इस प्रश्न का उत्तर दिए जाने के प्रयोजनार्थ किया गया था कि क्या देवी काली की प्रतिमा को स्थापित किए जाने के लिए न्यासियों के पक्ष में वसीयतकर्ता द्वारा वसीयतें और वसीयतकर्ता की मृत्यु के पश्चात् उस प्रतिमा की उपासना हिंदू विधि के सिद्धांत, जिसके अंतर्गत यह अभिकथित किया गया है कि दान केवल भावुक लोगों के पक्ष में दिए जा सकते हैं, के आधार पर अमान्य थी । उस मामले में वसीयतकर्ता ने कुछ संपत्तियां प्रतिमा को समर्पित कर दी थीं । वसीयतकर्ता की मृत्यु वर्ष 1890 में हो गई थी और प्रतिमा की वर्ष 1894 तक प्राण प्रतिष्ठा

---

[1] आई. एल. आर. (1909-1910) कलकत्ता 128.

नहीं की गई थी । यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि क्या वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय प्रतिमा के विद्यमान न होने के कारण वसीयत जिसके द्वारा संपत्ति समर्पित की गई थी, के उपबंध अमान्य हो गए । मुख्य न्यायमूर्ति लारेंस जेनकिन्स ने वैज्ञानिक विचार व्यक्त करते हुए अभिनिर्धारित किया गया कि इस प्रकार की वसीयतें मान्य थीं :–

> "किंतु वसीयतकर्ता ने निर्देशित किया कि उसकी समस्त संपत्ति उन व्यक्तियों के हवाले कर दी जाए जिनको उसने नामित किया है और उन व्यक्तियों को कतिपय संदाय के अध्यधीन रहते हुए निर्देशित किया कि वे अधिशेष आय, जो शिबायत के हाथों में होगी, को खर्च कर दे और उसकी माता के नाम में काली की छवि को स्थापित किए जाने के पश्चात् काली की उपासना की जाए । तत्समय यह प्रकटत: धार्मिक प्रयोजनों की प्रकृति का था और धार्मिक प्रयोजनों की इस प्रकृति को हिंदू विधि द्वारा मान्यता प्रदान की गई है ।
>
> ....
>
> इंग्लैंड में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि 'ईश्वर की उपासना के लिए' या 'ईश्वर और स्वामी की सेवा में समर्पित होने के लिए' दान उत्तम होते हैं । तो क्या इससे यह प्रकृति की शिबायत को अधिशेष आय को व्यय करने और 'उसकी माता के नाम के पश्चात् काली की छवि स्थापित किए जाने के पश्चात्' काली की उपासना का विवेकाधिकार था, अमान्य हो जाती है । मैं समझता हूं नहीं : वर्तमान में भी वसीयत करने वाले का प्रयोजन पवित्र है, छवि की स्थापना मात्र एक तरीका है, जिसके द्वारा पवित्र प्रयोजन को प्रभावी किया जाना है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

न्यायमूर्ति स्टीफन ने पृथक् रूप से विचार व्यक्त करते हुए उल्लेख किया :–

> "किंतु यद्यपि किसी देवता को समर्पण से दान गठित नहीं होता, किंतु उसका विधिक रूप से प्रभाव होता है । दानकर्ता का

आशय यह होता है कि दान की विषयवस्तु का प्रयोग देवता को उपासना द्वारा सम्मान प्रदान किए जाने और उपासनाकर्ताओं और देवता के सहायकों, जो देवता की सहायता करते हैं, को लाभ प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ किया जाना चाहिए । यह उपासना उचित है और मैं समझता हूं कि यह उपासना आवश्यक रूप से किसी छवि या किसी अन्य बाह्य भौतिक वस्तु का आश्रय लेते हुए संचालित की जाती है, किंतु वह छवि कुछ नहीं है जब तक कि वह देवता द्वारा प्रेरित न हो । <u>इस बात पर विचार करना प्रभुसत्ता संपन्न का कर्तव्य है कि समर्पण का प्रयोजन पूर्ण हो</u> ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

यह अभिनिर्धारित करते हुए कि वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय प्रतिमा के विद्यमान न होने का कोई अर्थ नहीं था और मुख्य **न्यायमूर्ति जैनकिंस** की राय के आधार पर यह स्पष्टत: प्रदर्शित होता है कि बंदोबस्त वाली संपत्ति विन्यास के प्रयोजन में ही निहित होती है । जैसाकि उन्होंने उल्लेख किया है, 'पवित्र प्रयोजन अभी भी वसीयतकर्ता है ।' यही वह प्रयोजन है जो न्यायिक व्यक्तित्व को प्रदान किया गया है । राज्य न्यायिक व्यक्ति के रूप में पवित्र प्रयोजन को मान्यता प्रदान करते हुए विन्यास को प्रभावी करता है और उसके मूर्त रूप को संरक्षण प्रदान करता है । प्रतिमा वसीयतकर्ता करने वाले के दान का तात्विक रूप से मूर्त रूप है । चूंकि दान उसको कहते हैं, जो देवता की निरंतर रूप से जारी रहने वाली उपासना को सुनिश्चित करता है, प्रतिमा वसीयत करने वाले के पवित्र प्रयोजन का भौतिक रूप से प्रदर्शन है । जहां न्यायालय किसी प्रतिमा के विधिक व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान करते हैं, वे वास्तव में वसीयत करने वाले की इच्छा को मान्यता प्रदान करते हैं और उसको संरक्षण प्रदान करते हैं कि देवता की उपासना की जाए ।

114. मुख्य न्यायमूर्ति बी. के. मुखर्जी ने ऊपरनिर्दिष्ट विनिश्चयों द्वारा अनुमोदित व्याख्या को संक्षेप में निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है :-

"**1.48क. संस्थाओं की प्रकृति से संबंधित सिद्धांत** – हिंदू विधि के अंतर्गत नैसर्गिक व्यक्तियों और निगमों, जिनको इंग्लिश विधि

द्वारा मान्यता प्रदान की गई है, के अलावा स्थिति यह है कि यदि किसी विन्यास का निर्माण किसी धार्मिक या पूर्त संस्था के लिए किसी न्यास के अभिकरण के बिना किया जाता है और विन्यास का उद्देश्य ऐसा उद्देश्य है, जिसको हिंदू विधि के स्वीकृत मानकों के अंतर्गत धार्मिक या पूर्त उद्देश्य होने के नाते पवित्र उद्देश्य के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है, तो उस संस्था को संपत्ति धारण करने के समर्थ विधिक व्यक्ति माना जाएगा ।

....

1.48ख. प्रतिमाएं – प्रतिमाओं की बाबत स्थिति विशेष प्रकृति की होती है । ऐसा प्रतीत होता है कि किसी नवोदित हिंदू के लिए स्थिति किंचित रूप से भिन्न है और संपूर्ण विन्यास नहीं बल्कि प्रतिमा जो किसी पवित्र या परोपकारी विचार के विन्यास के रूप में न्यास का केंद्र सृजित करती है और जिसको विधिक व्यक्ति माना जाता है, जिसमें नवोदित की संपत्ति निहित होती है । अंततः विधिक व्यक्तित्व विधि का सृजन मात्र है और उसका अस्तित्व यह उपबंधित किए जाने के द्वारा न्याय प्रदान किए जाने की इच्छा में है, जैसाकि वह न्यायिक संबंधों के लिए केंद्र में था : 'और वह शरीर, जिसमें विधि कृत्रिम व्यक्तित्व के रूप में सांस लेगी, के शरीर का चुनाव स्वरूप का मामला है न कि सार का ।[1]"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

115. कोई भी हिंदू किसी धार्मिक प्रयोजन के लिए बंदोबस्त कर सकता है । बंदोबस्त की गई संपत्तियों के संरक्षण में लोकहित निहित होता है और विन्यास यह सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ की जाती है कि उस विन्यास के साथ संलग्न समर्पणकर्ता का मूल पवित्र प्रयोजन पूर्ण हो । विधि इस पवित्र प्रयोजन को विधिक व्यक्तित्व प्रदान करती है । तथापि, जैसाकि मुख्य न्यायमूर्ति बी. के. मुखर्जी ने उल्लेख किया है, यह प्रतिमा है जो न्यायिक व्यक्ति के रूप में तात्विक रूप से प्रदर्शित होती है और जिसको उस केंद्र में 'विराजमान' देखा जाता है जिसमें संपत्ति

---

[1] बी. के. मुखर्जी द्वारा लिखित 'द हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चेरिटेबल ट्रस्ट', पांचवां, संस्करण ईस्टर्न ला हाऊस (1983), पृष्ठ 36.

निहित होती है । किसी पवित्र या परोपकारी प्रयोजन के प्रतीक के रूप में प्रतिमा को विधि द्वारा विधिक अस्तित्व मान्यता प्रदान की जाती है । इसलिए राज्य उस संपत्ति को संरक्षण प्रदान करेगा, जो प्रतिमा में निहित हो जाती है चाहे किसी विनिर्दिष्ट या अभिव्यक्त न्यास को स्थापित किए जाने का तत्व अनुपस्थित हो । पवित्र प्रयोजन या 'परोपकारी विचार' का उन्नयन विधिक व्यक्ति की हैसियत तक किया जाता है और प्रतिमा उस पवित्र प्रयोजन की तात्विक रूप से अभिव्यक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है, जिसके द्वारा विधिक संबंध प्रभावित होते हैं । यह हृदय से किए गए उस समर्पण का पवित्र प्रयोजन है, जो प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का आधार है और जो अधिकारों और कर्तव्यों के अध्यधीन है । विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की आवश्यकता इस बाबत विधिक निश्चितता कि समर्पित संपत्ति का स्वामी कौन है और साथ ही समर्पणकर्ता के मूल आशय को संरक्षण प्रदान किए जाने की आवश्यकता और दर्शनार्थियों के भविष्य के हित को ध्यान में रखते हुए उद्भूत होती है । न्यायालयों को यह अधिकार था कि वे कतिपय परिस्थितियों में दर्शनार्थियों के समुदाय को भी व्यक्तित्व प्रदान कर सकें, किंतु प्रतिमा को पवित्र प्रयोजन के भौतिक प्रदर्शन के रूप में विधिक संबंधों के केंद्र बिंदु के रूप में चुना जाता है ।

116. इसका कारण **मोहताब बहादुर** बनाम **काली पदा चटर्जी**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय में रेखांकित किया गया है । सुदूर अतीत में बर्दवान के महाराजा ने प्रतिमा (त्रिलोकेश्वर शिव) के पूजन के लिए कतिपय भूमि समर्पित की थी और प्रतिवादी के पूर्वज के पूजा के प्रबंधन के लिए शिबायत की जिम्मेदारी सौंपी थी । समर्पण के पश्चात् प्रतिमा नजदीक की एक नदी में आई बाढ़ के कारण बह गई । तत्पश्चात् महाराजा ने उसी गांव में एक नई प्रतिमा की स्थापना कराई । तथापि, प्रत्यर्थियों ने नई प्रतिमा को स्थापित किए जाने वाले स्थल पर इस आधार पर पूजन करने से इनकार कर दिया कि वास्तविक प्रतिमा तो बह गई थी । अपीलार्थियों ने नई स्थापित प्रतिमा के स्थल पर आवश्यक धार्मिक रीति-रिवाजों को पूर्ण किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रत्यर्थियों को विवश किए जाने के लिए निर्देश की ईप्सा की ।

---

[1] ए. आई. आर. 1914 कलकत्ता 200.

मुख्य न्यायमूर्ति जेनकिन्स और न्यायमूर्ति मुखर्जी की न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया :–

"4. .... यह स्पष्ट है कि यह संपत्ति प्रतिवादी के पूर्वज को महाराजा द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दी गई थी कि इस संपत्ति से उपार्जित आय का प्रयोग त्रिलोकेश्वर शिव की प्रतिमा की उपासना के लिए किया जाए । अब प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या यह न्यास मंदिर के बाढ़ में बह जाने और प्रतिमा के खंडित हो जाने के पश्चात् समाप्त हो गया............

5. ... क्या प्रतिवादी की विन्यास के अभिभावी होने के पश्चात् दी गई जमीन का कोई अर्थ नहीं रह गया, जैसाकि इस मामले में हुआ है, वह भूमि जिस पर मंदिर स्थित था, नदी में आई बाढ़ के कारण बह गया था । इस मत का समर्थन हिंदू विधि के किसी भी पाठ या सिद्धांत, जो हमारे संज्ञान में लाए गए, द्वारा नहीं किया गया है ।

6. इसके विपरीत इस दलील का विरोध इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा भूपति नाथ स्मृतितीर्थो **बनाम** रामलाल मैत्रा (ए. आई. आर. 1914 कलकत्ता 200) वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत द्वारा किया गया है । यदि वह भूमि जिस पर मंदिर स्थापित था और वह नदी की बाढ़ में बह गया था और प्रतिमा खंडित हो गई थी, के बाबत विन्यास को नष्ट नहीं किया गया था, तो ऐसा क्या घटित हुआ कि पक्षों की स्थिति परिवर्तित हो ? प्रतिवादी उसी स्थिति में है जैसेकि वह सेवा की अवधि के दौरान था । उसको भूमि निश्चित प्रयोजन के लिए प्रदान की गई थी अर्थात् वह उस भूमि की आय को महाराजा द्वारा स्थापित प्रतिमा की सेवा के प्रयोजनार्थ प्रयोग कर सकता था ...."

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

प्रतिमा उस पवित्र प्रयोजन के मूर्त रूप या अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके आधार पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है । प्रतिमा के विध्वंस के परिणामस्वरूप पवित्र प्रयोजन और साथ ही विन्यास की समाप्ति नहीं हो सकती । यहां तक कि जहां प्रतिमा को

नष्ट कर दिया जाता है या प्रतिमा की उपस्थिति स्वत: ही धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है या वह पूर्णतया अनुपस्थित हो जाती है, तो भी विन्यास द्वारा सृजित विधिक व्यक्तित्व विद्यमान रहता है । हमारे देश में प्रतिमाओं को धार्मिक प्रथा के रूप में नियमित रूप से जल में प्रवाहित किया जाता रहा है । किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार से जल में प्रवाहित कर दिए जाने के कारण पवित्र प्रयोजन समाप्त हो गया है । प्रतिमा के स्वरूप की स्थापना ही वह तरीका है, जिसमें पवित्र प्रयोजन की पूर्ति की जाती है । वास्तव में प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना स्वयमेव पवित्र प्रयोजन को मान्यता प्रदान किया जाना है और न कि उस तरीके को जिसके द्वारा पवित्र प्रयोजन को प्राय: आदर्श रूप प्रदान किया जाता है । पवित्र प्रयोजन की पूर्ति ऐसी स्थिति में भी की जा सकती है जहां पूर्ति की विद्यमान्यता धीरे-धीरे समाप्त हो रही है या जहां मंदिर तो विद्यमान है किंतु उसमें प्रतिमा अनुपस्थित है किंतु यह समर्पण के विलेख पर निर्भर करता है । ऐसा समस्त मामलों में वह पवित्र प्रयोजन जिसके प्रयोजनार्थ विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, विद्यमान बना रहता है ।

117. स्वतंत्रता के पश्चात् **देवकीनंदन** बनाम **मुरलीधर**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के चार न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा विन्यास की हिंदू विधि पर लागू सिद्धांतों की पुष्टि की गई । वर्ष 1919 में एक हिंदू वसीयतकर्ता ने अपनी भूमि के बाबत **श्री राधाकृष्णजी** की प्रतिमा (ठाकुर) के पक्ष में एक वसीयत निष्पादित की । उस भूमि के बाबत वसीयतकर्ता के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारियों और उसके दूरस्थ गोत्रजों के मध्य ठाकुर जी के कार्यों के प्रबंधन के संबंध में विवाद उत्पन्न हुआ । यह दलील दी गई कि ठाकुर जी के कार्यों के संबंध में कुप्रबंधन किया जा रहा था और जनता को पूजन करने से रोका जा रहा था । इस बाबत इस घोषणा की ईप्सा की गई कि ठाकुरद्वारा एक सार्वजनिक मंदिर है । न्यायालय के समक्ष यह विवाद्यक उद्भूत हुआ कि वसीयतकर्ता की वसीयत में समर्पण की परिधि का विनिर्धारण कैसे किया जाए । न्यायमूर्ति वैंकटरमा अय्यर ने इस न्यायालय की तरफ से निर्णय पारित करते हुए अभिनिर्धारित किया :-

[1] [1956] एस. सी आर. 756.

"6. ... प्रतिमा को संपत्तियों के दान का सत्य प्रयोजन यह नहीं होता कि ईश्वर को कोई लाभ प्रदान किया जाए, बल्कि उन लोगों द्वारा, जो उपासना की इच्छा रखते हैं, के वास्ते अवसर और सुविधाओं की व्यवस्था किए जाने के द्वारा आध्यात्मिक लाभ अर्जित करना होता है । भूपतिनाथ स्मृतितीर्थ **बनाम** रामलाल मैत्रा वाले मामले में इन पाठों और अन्य पाठों पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी प्रतिमा को प्रदान किए गए किसी दान के बाबत निर्णय किसी संवेदनशील व्यक्ति के पक्ष में किए गए अंतरण पर लागू नियमों का अवलंब लेते हुए नहीं किया जा सकता और किसी प्रतिमा के पक्ष में संपत्तियों के समर्पण में उन संपत्ति के स्वामियों द्वारा उन प्रयोजनों जिनको उनके द्वारा अभिप्राप्त किया जाना आशयित था, के लिए उनको समायोजित किए जाने के प्रयोजनार्थ उन संपत्तियों पर उनके आधिपत्य का परित्याग समाविष्ट था । अत: मुख्य न्यायमूर्ति सर लारेंस जेनकिंस द्वारा पृष्ठ 138 पर मताभिव्यक्ति की गई कि 'पवित्र प्रयोजन वर्तमान में भी वसीयतकर्ता ही है और प्रतिमा की स्थापना मात्र वह तरीका है, जिसको पवित्र प्रयोजन को प्रभावी किया जाता है' और यह कि 'प्रतिमा का समर्पण' उस पवित्र प्रयोजन की सारगर्भित अभिव्यक्ति है जिसके लिए समर्पण को अभिहित किया गया है ।

7. जब एक बार इस बात को समझ लिया जाता है कि प्रतिमाएं धार्मिक बंदोबस्तियों की सत्य लाभार्थी नहीं है, बल्कि उपासनाकर्ता धार्मिक बंदोबस्तियों के सत्य लाभार्थी हैं और विन्यास का प्रयोजन उपासनाकर्ताओं के लाभ के लिए उस उपासना को निरंतर चालू रखना है, तो यह प्रश्न कि क्या कोई विन्यास निजी है या सार्वजनिक, से कोई कठिनाई उद्भूत नहीं होती । अत: यहां पर जिस मुख बिंदु को निर्णीत किया जाना है, यह है कि क्या विन्यास के संस्थापक का आशय यह था कि कुछ विनिर्दिष्ट व्यक्ति पवित्र स्थान या उसके किसी विनिर्दिष्ट भाग की उपासना का अधिकार रखते हैं या जनसामान्य को भी यह अधिकार है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

दानदाता बंदोबस्त की संपत्ति पर अपने समस्त दावों का परित्याग करता है । तत्पश्चात् संपत्ति उस पवित्र प्रयोजन में निहित हो जाती है, जिसके प्रयोजनार्थ विन्यास की जाती है और जिसको एक विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है । प्रतिमा पवित्र प्रयोजन के भौतिक प्रकटीकरण का स्वरूप ले लेती है और परिणामस्वरूप विधिक संबंधों का केंद्र बन जाती है । विन्यास के लाभार्थी उपासनाकर्ता होते हैं और उपासनाकर्ताओं को ईश्वर के साथ संवाद और आध्यात्मिक लाभ अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ समर्थ बनाए जाने के लिए प्रतिमा का उचित रखरखाव किया जाता है और उसकी उपासना की जाती है ।

118. न्यायमूर्ति रामास्वामी ने **योगेन्द्र नाथ नास्कर** बनाम **आयकर आयुक्त, कलकत्ता**[1] वाले मामले में यह निर्णय देते हुए कि हिंदू प्रतिमा (या 'देवता') 1922 के आयकर अधिनियम की धारा 3 के अधीन 'व्यक्ति' की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं, इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की तरफ से निर्णय पारित करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

> "6. ...तथापि, इस बात का स्मरण रखा जाना चाहिए कि न्यायिक व्यक्ति के रूप में प्रतिमा कोई भौतिक व्यक्ति नहीं होती और इस सिद्धांत पर अत्यधिक अनुसंधान किया जा चुका है कि प्रतिमा को जैसे ही प्राण प्रतिष्ठा के संस्कार द्वारा पवित्र और जीवंत किया जाता है, वह स्वयमेव ही विधिक व्यक्ति के रूप में विकसित हो जाती है । यह भी सत्य नहीं है कि सर्वशक्तिमान, प्रतिमा जिसकी प्रतीक हैं, समर्पित संपत्ति का प्राप्तकर्ता और स्वामी है ।
>
> ....
>
> <u>सत्य विधिक स्थिति यह है कि वह प्रतिमा, जो दानदाता के आध्यात्मिक प्रयोजन का प्रतिनिधित्व करती है और उसको मूर्त रूप प्रदान करती है, विधि द्वारा मान्यताप्राप्त न्यायिक व्यक्ति होती है और इस न्यायिक व्यक्ति में समर्पित संपत्ति निहित होती है</u> । जैसाकि न्यायमूर्ति बी. के मुखर्जी द्वारा मताभिव्यक्ति की गई – 'जहां तक नवोदित लोगों का संबंध है .... यह न केवल सारगर्भित अभिव्यक्ति है बल्कि पवित्र प्रयोजन का भौतिक अवतार

---

[1] (1969) 1 एस. सी. सी. 555.

> भी है और इस विधिक व्यक्ति में समर्पित संपत्ति निहित होती है । जैसेकि मताभिव्यक्ति न्यायमूर्ति बी. के. मुखर्जी द्वारा की गई है, जहां तक प्रथमत: .... यह न केवल सारगर्भित अभिव्यक्ति है बल्कि पवित्र प्रयोजन का भौतिक अवतार भी है <u>और यद्यपि यह अभिनिर्धारित किए जाने में कठिनाई है कि संपत्ति मात्र उद्देश्य या प्रयोजन में निहित होती है, यह कहना नितांत रूप से विधिशास्त्र के ठोस सिद्धांतों के संगत होगा कि तात्विक उद्देश्य, जो किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन का प्रतिनिधित्व करते हैं या उसका प्रतीकत्व करते हैं, को विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रदान की जा सकती है और उस संपत्ति का स्वामी माना जा सकता है, जिसको संपत्ति समर्पित की गई है</u> ।' ...विधिक स्थिति रोमन विधि में विकास के अनेक संबंधों के सदृश्य हैं ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

119. समुद्री विधि में जलयान के मामले में न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की संकल्पना जिससे कि सार्वजनिक क्षेत्र में उसके द्वारा किए गए कार्यों को किसी व्यक्ति के द्वारा किए गए कार्य बताया जा सके, के समरूप भौतिक वस्तु (अर्थात् 'प्रतिमा'), जिसको समर्पण की पृष्ठभूमि में मूर्त रूप में देखा जाता है, का चुनाव विधिक संबंधों के स्थल के रूप में किया गया था । विधि की दृष्टि में किसी अस्तित्व का न्यायिक निर्वचन द्वारा सृजन से एक महत्वपूर्ण की पूर्ति होती है । चूंकि इसके द्वारा एक ऐसी स्थिति से छुटकारा मिल जाता है, जो उस स्थिति में उद्भूत होती यदि किसी हिंदू द्वारा किसी पवित्र प्रयोजन के लिए समर्पण के बावजूद कोई विधिक रूप से मान्यता प्राप्त अस्तित्व विद्यमान न होता, जो समर्पण प्राप्त कर सकता । ऐसी स्थिति को न्यायिक रूप से मान्यताप्राप्त सिद्धांत द्वारा छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता कि जहां हम किसी विन्यास को किसी धार्मिक या पूर्त संस्था के लिए स्थापित किया गया है और उस विन्यास का उद्देश्य पवित्र है, तो संस्था को किसी न्यास की अनुपस्थिति में भी न्यायिक व्यक्ति प्रतीत किया जाएगा । इसी प्रकार से जहां समर्पण किसी ऐसी प्रतिमा के लिए किया जाता है, जिसकी उपासना की जानी है, तो वर्तमान और भविष्य के दर्शनार्थियों के हित विधिक संरचना, जिसके द्वारा किए गए समर्पण

का विनियम सुनिश्चित किया जाना था, की अनुपस्थिति में जोखिम में रहेंगे । पवित्र प्रयोजन के बाबत विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्‌वारा यह सुनिश्चित किया गया कि एक ऐसा अस्तित्व विद्‌यमान है, जिसमें समर्पण प्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ संपत्ति आदर्श भाव में निहित होगी और जिसके द्‌वारा उपासकों के हितों को संरक्षण प्रदान किया जा सकेगा । यह समर्पण के उद्देश्य को पूर्ण किए जाने और धार्मिक पाठों के अनुसार उपासना के निर्वहन के प्रयोजनार्थ था । जिससे कि दर्शनार्थी प्रार्थना के माध्यम से शांति का अनुभव कर सके ।

120. अत: न्यायालयों द्‌वारा विधिक व्यक्तियों को मान्यता प्रदान किए जाने की युक्ति का अविष्कार इस कारणवश किया गया था ताकि संपत्ति समर्पित किए जाने की हिंदू प्रथा को विधिक रूप से प्रभावी बनाया जा सके । विन्यास का संस्थापक या वसीयतकर्ता पवित्र प्रयोजन के प्रयोग के लिए संपत्ति को समर्पित करने का निर्णय ले सकता है । उपरोक्त अनेक मामलों में इस पवित्र प्रयोजन ने निरंतर रूप से किए जा रहे रखरखाव और प्रतिमा की उपासना का स्वरूप ले लिया है । संस्थापक द्‌वारा विन्यास या वसीयत के वसीयतकर्ता, जिसने संपत्ति को इस प्रकार से समर्पित किया, द्‌वारा विन्यास या वसीयत को प्रभावी किए जाने और साथ ही इस बात को सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ कि संपत्ति को सदैव समर्पण के प्रयोजन के लिए ही प्रयोग किया जाएगा, में स्पष्टत: राज्य का हित निहित था । इन बातों को ध्यान में रखते हुए एक विधिक संकल्पना को सृजित किया गया, जिसके द्‌वारा धार्मिक या पूर्त प्रयोजनों, जिसके लिए विन्यास को स्थापित किया गया, को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया । विधिक व्यक्तित्व को प्रतिमा को समर्पण के मामले में इस निष्कर्ष पर पहुंचना होता है कि 'सारगर्भित अभिव्यक्ति' स्वयमेव प्रतिमा द्‌वारा ही व्यक्त की गई है । न्यायालय विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्‌वारा इस प्रकार से समर्पित संपत्तियों को प्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ विधिक अस्तित्व सृजित करने के द्‌वारा समर्पण को विधिक रूप से प्रभावी करता है । न्यायालय ने यह अभिकथित करते हुए कि सृजित किया गया कृत्रिम व्यक्ति वास्तव में समर्पित संपत्तियों का स्वामी है, शिबायत द्‌वारा कुप्रबंधन के विरुद्ध संरक्षण प्रदान कर दिया है । यद्‌यपि कृत्रिम विधिक व्यक्ति नैसर्गिक

व्यक्ति की सहायता के बिना वाद फाइल नहीं कर सकता, फिर भी विधिक संरचना को विद्यमानता में लाया गया जिसके द्वारा समर्पित संपत्ति के पक्ष में और उसके विरुद्ध दावों को निस्तारण किया जा सके ।

121. यद्यपि न्यायालयों ने संकल्पनात्मक रूप से विन्यास के संस्थापक के आशय को विधिक व्यक्ति प्रदान कर दिया, फिर भी विधिक संबंधों का सुविधाजनक भौतिक संबंध भौतिक रूप से स्थापित प्रतिमा में पाया जाता है । इस समझ को इस न्यायालय द्वारा **देवकीनंदन** (उपरोक्त) वाले मामले में की गई मताभिव्यक्ति में दोहराया गया है कि प्रतिमा वसीयतकर्ता के पवित्र प्रयोजन की 'सारगर्भित अभिव्यक्ति' है । प्रतिमा पवित्र प्रयोजन (जिसे वर्तमान में कृत्रिम विधिक व्यक्ति कहा जाता है) की प्रतिनिधि या 'सारगर्भित अभिव्यक्ति' के रूप में विधिक संबंधों का आधार हो जाती है । यह इस समझ के सामंजस्य में भी है कि जहां किसी प्रतिमा को नष्ट कर दिया जाता है, तो विन्यास समाप्त नहीं होती । यहां तक कि जहां पर पवित्र प्रयोजन का भौतिक प्रकटीकरण होने के नाते प्रतिमा को विसर्जित किया जाता है और जिस समयबिंदु पर वह स्थायी रूप से विद्यमानता में नहीं होती या प्रकृति के प्रकोप के कारण नष्ट हो जाती है, तो भी पवित्र प्रयोजन विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त होने के कारण विद्यमान रहता है ।

122. जिस सीमा तक यह सिद्धांत विधिक आवश्यकता और सुविधा के परिणामस्वरूप उद्भूत हुआ, को न्यायमूर्ति अय्यंगर द्वारा **विद्यापूर्ण तीर्थ स्वामी** बनाम **विद्यानिधि तीर्थ स्वामी**[1] वाले मामले में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए समझाया, जिस उदाहरण के अंतर्गत विद्वान् न्यायाधीश ने उल्लेख किया कि यह विधिक उपधारणा के द्वारा भी संभव है कि किसी भक्तों के समुदाय या समूह को एक विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की जाए । उन्होंने उल्लेख किया कि इससे समर्पित संपत्तियों और भक्तों के हितों को संरक्षण प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ पर्याप्त विधिक तंत्र को सृजित किए जाने के न्यायालयों के उद्देश्यों को पूर्ण करने में समान रूप से सहायता प्राप्त होगी । तथापि, न्यायालय ने उल्लेख किया कि चूंकि 'व्यावहारिक' रूप से कोई अंतर नहीं

---

[1] आई. एल. आर. (1904) 27 मद्रास 435.

था, इसलिए सरलता को दृष्टि में रखते हुए विधिक उपधारणा को प्रतिमा के संबंध में लागू किया जाए और न कि भक्तों के संबंध में । निर्णयज विधि का यह अनुक्रम इस बात का द्योतक है कि धार्मिक प्रथा को दृष्टि में रखते हुए प्रतिमा के निरंतर रूप से व्यक्तित्वकरण के द्वारा किस प्रकार से विधिक संबंधों के स्थल के रूप में प्रतिमा का चयन किए जाने के लिए न्यायालय के समक्ष इस विवाद की आधारशीला रखी ।

123. अत: 'विधिक या विधिक' व्यक्ति के रूप में हिंदू प्रतिमा को मान्यता प्रदान किया जाना दो आधारों पर आधारित होता है, जिनको न्यायालयों द्वारा योजित किया जाता है । प्रथम आधार वसीयतकर्ता के पवित्र प्रयोजन को एक ऐसे विधिक अस्तित्व के रूप में मान्यता प्रदान करता है, जो आदर्श भाव में संपत्ति धारण करने के समर्थ हो और जो भाव न्यास के सृजन में अनुपस्थित हो । द्वितीय आधार स्वयमेव पवित्र प्रयोजन और प्रतिमा, जो पवित्र प्रयोजन की पूर्ति को सुनिश्चित किए जाने के पवित्र प्रयोजन को समाविष्ट करता हो, का विलयन होता है । इस प्रकार से परिकल्पना किए जाने के आधार पर हिंदू प्रतिमा एक विधिक व्यक्ति हो जाती है । पवित्र प्रयोजन की विन्यास को संपत्ति स्वामित्व के आदर्श भाव में प्रतिमा को विधिक व्यक्ति के रूप में धारण किया जाता है । क्या कारण था कि न्यायालय द्वारा ऐसी विधिक संकल्पना को सृजित किया, इसको बोधगम्य विधिक रूपरेखा के द्वारा उपबंधित किया जाना था, जो बाह्य चुनौतियों और साथ ही भीतरी कुप्रबंधन से पवित्र प्रयोजन के प्रयोजनार्थ समर्पित संपत्तियों को संरक्षण प्रदान कर सके । जहां पर पवित्र प्रयोजन की दृष्टि में रखते हुए समस्त भक्तों के लाभ के लिए विधिक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए लोक न्यास स्थापित किए जाने की आवश्यकता उद्भूत होती है, न्यायालयों को यह अनुज्ञा प्राप्त होती है कि वे भक्तों के लाभार्थ पवित्र प्रयोजन को संरक्षण प्रदान करें ।

124. इतिहास और हिंदू प्रतिमाओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से संबंधित विधिक आविष्कार के अंतर्निहित आधार का अध्ययन किए जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे समक्ष उपस्थित मुख्य प्रश्न का उल्लेख किया जाए । यहां पर जो मुख्य मामला है, वह वाद संख्या 5 में वादियों की तरफ से दी गई दलील के

उत्तर में एक महत्वपूर्ण उपाय में परिवर्तित हो जाता है, जो यह है कि प्रथम और द्वितीय वादी – भगवान श्रीराम विराजमान और स्थान श्रीरामजन्म भूमि विधिक व्यक्ति हैं । यदि इस दलील को स्वीकार कर लिया जाता है, तो इस न्यायालय से यह अपेक्षा की जाएगी कि द्वितीय वादी, जो घोषित रूप से विधिक व्यक्ति है, के विधिक परिणामों का न्यायनिर्णयन किया जाए ।

त्र.3 प्रथम वादी का विधिक व्यक्तित्व

125. जहां तक भगवान राम के भक्तों का संबंध है, वाद संख्या 5 में प्रथम वादी 'भगवान श्रीराम विराजमान' भगवान राम के अवतार हैं और रामजन्म भूमि के प्राण प्रतिष्ठित देवता का स्थान लेते हैं । हिंदू भक्तों की यह आस्था और विश्वास है कि यह एक ऐसा मामला है जो उनके अंतःकरण से जुड़ा हुआ है और इस न्यायालय का यह अधिकार नहीं है कि उनकी आस्था की मजबूती या उनके विश्वास की तर्कसंगतता की संवीक्षा किसी प्रथमदृष्ट्या परीक्षण के परे जाकर करे, चाहे उनका विश्वास सद्भावपूर्वक ही क्यों न हो ।

126. मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य पर यह दर्शित होता है कि भगवान राम के हिंदू भक्त उनकी भक्ति की धार्मिक श्रेष्ठता में वास्तविक, लंबे समय तक चलने वाला और गहरा विश्वास रखते हैं, जो उन्होंने इस स्थल पर भगवान राम की उपासना किए जाने के द्वारा अर्जित की है और जिसके संबंध में उनका विश्वास कि यही भगवान राम का जन्मस्थान है । **जोसेफ टिफेंथेलर** ने 18वीं शताब्दी में और **रॉबर्ट मॉन्टगोमरी मार्टिन** ने 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपने यात्रा वृत्तांत में विवादित स्थल पर हिंदुओं द्वारा पूजा-अर्चना के प्रचलन को अभिलिखित किया है । उन्होंने अनेक विशेष अवसरों को भी संदर्भित किया है जैसेकि रामनवमी जिसके दौरान हिंदू भक्त भगवान राम को अपनी उपासना अर्पित करने की इच्छा रखते हुए दूरवर्ती क्षेत्रों से जन्मस्थान पर एकत्रित होते हैं । तीन गुंबदों वाले ढांचे के नीचे जन्मस्थान की विद्यमानता में हिंदू भक्तों की निरंतर रूप से चली आ रही आस्था और विश्वास का सबूत निर्मोहियों और व्यक्तिगत भक्तों की भक्ति के क्रियाकलाप हैं जैसेकि निहंग सिखों और असंख्य हिंदू भक्तों ने अनेक वर्षों के दौरान

विवादित स्थल के दर्शन किए हैं । यह हिंदू धर्म के पूजा स्थल के रूप में विवादित स्थल की पवित्रता में लंबे समय से चले आ रहे विश्वास का प्रमाण है । यह आवश्यक नहीं है कि इस बात को साबित किए जाने के प्रयोजनार्थ वाद संख्या 5 में प्रथम वादी के विधिक व्यक्तित्व का विनिर्धारण किया जाए कि क्या भक्तों का यह विश्वास है कि केंद्रीय गुंबद के नीचे स्थित स्थल भगवान राम का जन्मस्थान था या क्या भक्तों की स्वयमेव आस्था और विश्वास ही उनको इस स्थान का स्वत्व प्रदान करता है । इन प्रश्नों पर इस निर्णय के पश्चात्वर्ती भाग में विचार किया गया है । वर्तमान प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इस बात का उल्लेख किया जाना पर्याप्त होगा कि विवादित स्थल की पवित्रता के बारे में हिंदुओं के विश्वास के तथ्य को साक्ष्य द्वारा साबित कर दिया गया है ।

127. किसी विधिक व्यक्ति को मान्यता प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ सुसंगत जांच की जानी चाहिए । इस उद्देश्य को किस सीमा तक अभिप्राप्त किया जाना चाहिए, यह उस वस्तु के स्वरूप या शरीर जिसको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, की विषयवस्तु नहीं होता बल्कि मात्र स्वरूप की विषयवस्तु होता है । जैसीकि मताभिव्यक्ति **सालमंड** द्वारा की गई है, जहां तक विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का संबंध है, इससे उस उद्देश्य की पूर्ति होती है, जिसको अभिप्राप्त किया जाना ईप्सित है, बल्कि विधिक व्यक्तित्व किसी अदृश्य विचार को भी प्रदान किया जा सकता है । हिंदू प्रतिमाओं के मामले में विधिक व्यक्तित्व मात्र प्रतिमा को ही नहीं प्रदान किया जाता है बल्कि देवता की निरंतर पूजा के प्रयोजनार्थ अधोरेखांकित पवित्र प्रयोजन को भी प्रदान किया जाता है, जिसे प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठित किया गया । जहां विधिक व्यक्तित्व देवता के निरंतर रूप से पूजन के प्रयोजन को प्रदान किया जाता है, प्रतिमा के स्थानांतरित हो जाने या उसके नष्ट हो जाने से उसका विधिक व्यक्तित्व प्रभावित नहीं होता । जैसीकि मान्यता न्यायालय द्वारा प्रदान की गई है, विधिक व्यक्तित्व प्रतिमा के निरंतर रूप से पूजन के प्रयोजन में निहित होता है । यह निरंतर रूप से पूजन के संरक्षण का प्रश्न है कि विधि इस प्रयोजन को मान्यता प्रदान करती है और इसको विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा संरक्षण प्रदान करती है ।

128. विधिक व्यक्तित्व देवता के निरंतर रूप से पूजन के अतिरिक्त हिंदू प्रतिमाओं को भी प्रदान किया जाता है, जिससे कि न्यायालयों को वह संकल्पनात्मक रूपरेखा उपलब्ध कराई जा सके जिसके भीतर हिंदू प्रतिमाओं के लिए बंदोबस्त की गई या उनके साथ संबद्ध विवादित संपत्ति के संबंध में परस्पर विरोधी दावे अंतर्वलित करने वाले विवादों का व्यावहारिक रूप से न्यायनिर्णयन हो सके । न्यायालय को मालिकाना दावे और शिबायतों द्वारा कुप्रबंधन के विनिर्धारण और भक्तों के हितों के संरक्षण हेतु विवादों के न्यायनिर्णयन के प्रयोजनार्थ विधिक संबंधों के धरातल की भी पुष्टि करनी होती है । अत: विधि किसी विनिर्दिष्ट या अभिव्यक्त न्यास के स्थापन की अनुपस्थिति में भी प्रतिमा की संपत्तियों का संरक्षण करती है । हमारे समक्ष उपस्थित कार्यवाहियों में वाद संख्या 5 में प्रथम वादी के विधिक अधिकारों और संपत्तियों के बाबत विवाद था । तथापि, प्रथम वादी के विधिक व्यक्तित्व को चुनौती देते हुए कोई दलीलें प्रस्तुत नहीं की गई । यह महत्वपूर्ण है कि वाद संख्या 4 में वादी की तरफ से उपस्थित विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल **डा. राजीव धवन** ने प्रथम वादी के न्यायिक व्यक्तित्व को स्वीकार कर लिया । प्रथम वादी के विधिक व्यक्तित्व का प्रश्न उन संपत्तियों से भिन्न प्रश्न हैं, जो प्रथम वादी से संबद्ध हैं । उन संपत्तियों का विनिर्धारण जो देवता में निहित होती हैं, पर चर्चा इस निर्णय में बाद में संपत्ति पर परस्पर विरोधी दावों के प्रकाशन में की जाएगी ।

129. वर्तमान मामले में प्रथम वादी कई सौ वर्षों से पूजन की वस्तु रहा है और निरंतर रूप से पूजन का अधोरेखांकित प्रयोजन किसी अभिव्यक्त समर्पण या न्यास की अनुपस्थिति में भी स्पष्ट है, यद्यपि वह अनुपस्थित है । प्रतिमा की विद्यमानता मात्र स्वरूप या शरीर का प्रश्न है और प्रथम वादी का विधिक व्यक्तित्व प्रतिमा की निरंतर विद्यमानता पर आश्रित नहीं है । वर्तमान विवाद के केंद्र बिंदु में वे प्रश्न हैं, जो देवता के अधिकारपूर्ण प्रबंधक और प्रतिमाओं के निकट भगवान राम के भक्तों की पहुंच से संबंधित हैं । अधोरेखांकित प्रयोजन के विधिक संरक्षण और विवाद का व्यावहारिक रूप से न्यायनिर्णयन किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रथम वादी के विधिक व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान की गई है ।

त्र.4. द्वितीय वादी का विधिक व्यक्तित्व

130. वाद संख्या 5 में वादी की तरफ से उपस्थित वरिष्ठ विद्वान् काउंसेल श्री के. पारासरन ने दलील दी कि द्वितीय वादी एक विधिक व्यक्ति है । उन्होंने निवेदन किया कि हिंदू विधि में विधिक व्यक्ति की संकल्पना केवल प्रतिमाओं तक सीमित नहीं है । श्री पारासरन के अनुसार सुसंगत प्रश्न यह उद्भूत होता है कि उपासना देवता की की जाती है न कि उस स्वरूप की जिसमें देवता अवतरित होते हैं । उन्होंने दलील दी कि 'स्थान श्रीराम जन्मभूमि' उपासना का स्थान है और यह स्थान दैवीय भावना का प्रतिनिधित्व करता है । भक्तों की आस्था यह है कि भूमि ही देवता है और उपासना भी भूमि की की जाती है । अतः, यही वह आधार है, जिस पर वादी संख्या 5 ने निवेदन किया कि इस न्यायालय को उस भूमि को न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान करना चाहिए, जो श्रीराम जन्मस्थान का प्रतिनिधित्व करती है । उन्होंने अपनी इस दलील के समर्थन में अभिकथित किया कि ईश्वर आकार विहीन और स्वरूप विहीन होता है और यह कतई अपेक्षित नहीं है कि उपासना की वस्तु कोई देवता ही हो । उन्होंने दलील दी कि विवादित स्थल के चारों तरफ इस आस्था और विश्वास के साथ कि यही भगवान राम का जन्मस्थान है, परिक्रमा किए जाने से उस संपत्ति की चौहद्दी चिह्नित हो जाती है, जिसको न्यायिक अस्तित्व की हैसियत प्रदान की जानी चाहिए । श्री पारासरन ने अपनी इस दलील के समर्थन में निम्नलिखित विनिश्चयों का अवलंब लिया, जिनका उल्लेख निर्णय पारित किए जाने के अनुक्रम के दौरान किया जाएगा :–

मनोहर गणेश ताम्बेकर बनाम **लक्ष्मीराम गोविंदराम**[1],

भूपति नाथ स्मृतितीर्थ बनाम **रामलाल मैत्रा**[2],

रामपत बनाम **दुर्गाभारती**[3],

राम ब्रह्म बनाम **केदार नाथ**[4],

---

[1] आई. एल. आर. 1888, 12 बॉम्बे 247.

[2] आई. एल. आर. 1909, 37 कलकत्ता 128.

[3] ए. आई. आर. 1920 अवध 258.

[4] (1922) 36 सी. एल. जे. 478.

मदुरा तिरुप्परनकुंद्रम बनाम **अलीखान साहिब**[1],

द बोर्ड आफ कमिश्नर्स फार हिंदू रिलीजियस इनडाउमेंट्स, मद्रास बनाम **पिडागू नरसिम्हन**[2],

टी. आर. के. रामास्वामी सरवाई बनाम **द बोर्ड आफ कमिश्नर्स फार द हिंदू रिलीजियस इनडाउमेंट्स, मद्रास,**[3]

द पूहारी फकीर सदावर्थी आफ बॉडीपिपुतरम बनाम **द कमिश्नर्स, हिंदू रिलीजियस और चैरीटेबल इनडाउमेंट्स**[4],

वैंकटरमणा मूर्थी बनाम **श्रीराम मंधीरम**[5],

शास्त्री यगनापुरुशद जी बनाम **मुलदास भुदरदास वैश्य**[6],

योगेन्द्र नाथ नास्कर बनाम **सी. आई. टी., कलकत्ता**[7],

कामराजू वेंकट कृष्ण राव बनाम **उप-कलक्टर, औंगोले**[8],

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर बनाम **सोमनाथ दास**[9] और

थयाराम्मल बनाम **कनकाम्मल**[10] ।

131. वाद संख्या 5 में वादी की ओर से उपस्थित विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री सी. एस. वैद्यनाथन ने श्री पारासरन द्वारा दी गई दलीलों के आधार पर दलील दी कि वाद संख्या 5 में द्वितीय वादी एक विधिक व्यक्ति है । उन्होंने दलील दी कि (i) भूमि के देवता होने के नाते; (ii) भूमि के देवता का निवास स्थान होने के नाते, और (iii) भूमि के देवता की संपत्ति होने के नाते स्थिति में भिन्नता है । उन्होंने दलील दी कि

---

[1] 1931 (61) मद्रास ला जर्नल 285.

[2] 1939 (1) मद्रास ला जर्नल 134.

[3] आई. एल. आर. 1950 मद्रास 799.

[4] [1962] (सप्ली.) 2 एस. सी. आर. 276.

[5] (1964) 2 ए. एन. डब्ल्यू. आर. 457.

[6] [1966] 3 एस. सी. आर. 242.

[7] (1969) 1 एस. सी. सी. 555.

[8] [1969] 1 एस. सी. आर. 624.

[9] (2000) 4 एस. सी. सी. 146.

[10] (2005) 1 एस. सी. सी. 457.

वर्तमान मामले में विवादित स्थल के स्वरूप में भूमि उपासना की वस्तु है और इस कारणवश भूमि स्वयमेव ही देवता है । श्री वैद्यनाथन ने दलील दी कि विधिक व्यक्ति के रूप में द्वितीय वादी का विनिर्धारण कब्जे, संयुक्त कब्जे या प्रतिकूल कब्जे के प्रश्नों को अर्थहीन कर देता है, चूंकि भूमि स्वयमेव ही एक विधिक व्यक्ति है और कोई भी अन्य व्यक्ति किसी विधिक व्यक्तित्व पर कब्जा नहीं कर सकता । उन्होंने दलील दी कि मात्र यह तथ्य कि विवादित स्थल पर कोई मस्जिद विद्यमान थी, सुन्नी वक्फ़ बोर्ड की तरफ से स्वत्व या संयुक्त कब्जे के दावे का साक्ष्य नहीं हो सकता । अपनी इसी दलील को आगे विस्तारित करते हुए उन्होंने आगे दलील दी कि यदि एक बार यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि विवादित स्थल एक विधिक व्यक्ति है, तो भी उस भूमि का विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त देवता अभिभाज्य होते हैं और उनको विभाजित नहीं किया जा सकता । संपत्ति के किसी भी विभाजन के परिणामस्वरूप देवता का विध्वंस होगा । यही वह आधार है जिस पर उच्च न्यायालय द्वारा विवादित संपत्ति को तीन भागों में विभाजित किए जाने का निर्देश देने वाले आक्षेपित आदेश को चुनौती दी गई । इस संबंध में **प्रमथ नाथ मुलिक** बनाम **प्रद्युम्न कुमार मुलिक**[1], **आईडल आफ ठाकुरजी श्री गोविन्द्र देवजी महाराज, जयपुर** बनाम **बोर्ड आफ रेवेन्यू, राजस्थान**[2] और **प्रोफुल्ला कोरोल रिक्विटे** बनाम **सत्य कारोन रिक्विटे**[3] वाले मामलों में दिए गए विनिश्चयों का अवलंब लिया गया ।

132. श्री वैद्यनाथन ने निवेदन किया कि विवादित संपत्ति, जो एक विधिक व्यक्ति है, स्वामीहीन संपत्ति है । चूंकि विवादित संपत्ति एक विधिक व्यक्ति है, वह संक्रमणीय नहीं है । उन्होंने दलील दी कि भूमि जो स्वामीहीन या वाणिज्य के बाहर की संपत्ति है, को प्रतिकूल कब्जे द्वारा अर्जित नहीं किया जा सकता । उन्होंने दलील दी कि यदि प्रतिमा खंडित हो जाती है, तो भी देवता को अमरत्व प्राप्त होता है और इसलिए विवादित भूमि पर मस्जिद का निर्माण उस भूमि से देवता के

---

[1] (1924-25) 52 1 ए. 245.

[2] [1965] 1 एस. सी. आर. 96.

[3] (1979) 3 एस. सी. सी. 409.

रूप में उसका स्वरूप नहीं छीन सकता । उन्होंने **महंत रामस्वरूप दास जी** बनाम **एस. पी. शाही, स्पेशल ऑफिसर इंचार्ज आफ द हिंदू रिलीजियस ट्रस्ट**[1], **राम जानकीजी डीटीज़** बनाम **बिहार राज्य**[2], **अमरेन्द्र प्रताप सिंह** बनाम **तेज बहादुर प्रजापति**[3], **थायारअम्मल** बनाम **कनकम्मल**[4] और **राजस्थान हाऊसिंग बोर्ड** बनाम **न्यू पिंक सिटी निर्माण सहकारी समिति लिमिटेड**[5] वाले मामलों में पारित निर्णयों का अवलंब लिया ।

133. इसके विपरीत वाद संख्या 4 में वादी सुन्नी सेंट्रल वक्फ़ बोर्ड की ओर से उपस्थित विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल डा. राजीव धवन ने दलील दी कि 'स्थान राम जन्मभूमि' (वाद संख्या 5 में द्वितीय वादी) विधिक व्यक्ति नहीं है । उन्होंने निवेदन किया कि यह दलील कि विवादित भूमि विधिक व्यक्ति है, का अवलंब सर्वप्रथम वर्ष 1989 में ही लिया गया । डा. धवन ने दलील दी कि इस न्यायालय के समक्ष दो पृथक् और भिन्न विवाद्यक उद्भूत हुए हैं । एक विवाद्यक इस आस्था और विश्वास से संबद्ध है कि भगवान राम का जन्म अयोध्या में हुआ था और इस बाबत साक्ष्य भी प्रस्तुत किए गए हैं । अन्य विवाद्यक विधिक परिणामों का वह समुच्चय है, जो विवादित संपत्ति से उद्भूत होता है, जो विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रदान कर दिए जाने के कारण विवादित संपत्ति है । डा. धवन ने निवेदन किया कि किसी वर्ग की आस्था और विश्वास कि भगवान राम के जन्मस्थान के साथ संलग्न धार्मिक महत्व को चुनौती नहीं दी जा सकती अर्थात् संक्षेप में वह स्थल जो जन्मस्थान है और विवादित है । इसके अतिरिक्त इस संपत्ति को विधिक व्यक्ति की हैसियत मात्र इस आस्था और विश्वास के आधार पर प्रदान की जा सकती है कि यह भगवान राम का जन्मस्थान है । उन्होंने इस संबंध में यह निवेदन किया कि भक्तों के कतिपय वर्ग का व्यक्तिपरक विश्वास विधि की दृष्टि में किसी मालिकाना हक के उद्देश्य परक परिणाम की

---

[1] [1959] (सप्ली.) 2 एस. सी. आर. 583

[2] (1999) 5 एस. सी. सी. 50.

[3] (2004) 10 एस. सी. सी. 65.

[4] (2005) 1 एस. सी. सी. 457.

[5] (2015) 7 एस. सी. सी. 601.

ओर नहीं ले जा सकता । उन्होंने दलील दी कि वैदिक काल में प्राचीन भारत में प्रकृति के भौतिक स्वरूप की उपासना की जाती थी । इससे वस्तु की उपासना के आधारभूत उद्देश्य की पूर्ति हुई । डा. धवन ने दलील दी कि विधिक व्यक्तित्व की हैसियत धार्मिक महत्व के प्रत्येक वस्तु के साथ संलग्न नहीं होती और इसके लिए पवित्रीकरण या मान्यता के निश्चायक कार्य अपेक्षित होते हैं ।

134. डा. धवन ने आगे निवेदन किया कि अचल संपत्ति पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना हिंदू प्रतिमाओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान करने वाली विद्यमान विधि द्वारा समर्थित नहीं है और भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना एक नया अविष्कार होगा जो उस भूमि को किसी भी प्रकार के न्यायनिर्णयन से पृथक् कर देगा । ऐसी स्थिति में विधिक अभेद्यता मात्र भक्तों की आस्था और विश्वास के आधार पर प्रदान कर दी जाएगी । उन्होंने आगे दलील दी कि द्वितीय वादी को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ दो विधिक व्यवस्थाएं सृजित हो जाएंगी – पहली विधिक व्यवस्था वह होगी, जो प्रतिमाओं के संबंध में लागू होगी और द्वितीय विधिक व्यवस्था वह होगी, जो भूमि के संबंध में लागू होगी – दोनों व्यवस्थाएं सुभिन्न अधिकारों, शक्तियों, कर्तव्यों और हितों पर आधारित होंगी । डा. धवन ने हमारा ध्यान प्रतिमा को शासित किए जाने के प्रयोजनार्थ लागू व्यवस्था और भूमि को शासित किए जाने के प्रयोजनार्थ व्यवस्था (जैसीकि वाद संख्या 5 में वादियों द्वारा किए गए निवेदनों से स्पष्ट होती है) के मध्य अंतर की ओर निम्नलिखित आधारों पर आकर्षित किया :–

(i) **हिंदू प्रतिमा को मान्यता प्रदान किए जाने के रूप में प्रथम वादी पर लागू विधिक व्यवस्था** – प्रतिमा की संपत्तियां आदर्श भाव में प्रतिमा में ही निहित होती हैं; प्रतिमा के स्वत्व का दावा केवल शिबायत की पहल पर पोषणीय होता है (जब तक कि शिबायत प्रतिमा के हितों के विपरीत कार्य नहीं करता); और प्रतिकूल कब्जे और परिसीमा की विधि प्रतिमा के स्वामित्वाधीन संपत्ति को अंतर्वलित करने वाले दावों पर लागू होती है; और

(ii) **द्वितीय वादी पर लागू होने वाली विधिक व्यवस्था –**

विधिक मान्यता भक्तों के इस व्यक्तिपरक विश्वास पर आधारित होती है कि क्षेत्र भी स्वयमेव देवता होता है; विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से परस्पर विरोधी स्वामित्व वाले दावे निरर्थक हो जाते हैं; और परिसीमा और प्रतिकूल कब्जे की विधि प्रश्नगत संपत्ति के मामले में लागू नहीं होती ।

135. डा. धवन ने किसी परिणाम, जो उपरोक्त भिन्नता के आधार पर उद्भूत होती हैं, को स्वीकार किए जाने के विरुद्ध दलीलें दीं । डा. धवन ने दलील दी कि द्वितीय वादी को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना विधिक अयोग्यता का क्षेत्र सृजित करेगा । उन्होंने निवेदन किया कि प्रतिमा को विधिक व्यक्ति की भांति मान्यता प्रदान किया जाना विधित: प्रतिवाद योग्य है और इस न्यायालय के न्यायशास्त्र, जिसके द्वारा स्वयमेव भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है और जो ऐसे अधिकार प्रदान करने वाला विधिक अधिकार है, जो प्रथम वादी को उपलब्ध नहीं है, प्रदान करने वाला विधिक अविष्कार के साथ संगत है । उन्होंने अंतत: यह दलील दी कि भारतीय धर्मों और अन्य धर्मों के मध्य कोई भिन्नता नहीं की जानी चाहिए और वाद संख्या 5 के वादियों द्वारा संवैधानिक संरक्षण के लिए कोई ऐसा अभिवाक्, जो आवश्यकत: सिविल प्रकृति का मामला है, नहीं किया जाना चाहिए । यह एक धर्म की आस्था और विश्वास के परिणामस्वरूप होगा, जो दोनों धार्मिक समुदायों के मध्य निजी अधिकारों पर सिविल न्यायनिर्णयन के परिणाम को प्रभावित करने वाला होगा ।

इन परस्पर विरोधी निवेदनों का अब विश्लेषण किया जाएगा ।

विभेदकारी धार्मिक महत्व और विधिक व्यक्तित्व

136. किसी स्थान को पूजा स्थल के स्थान के रूप में धार्मिक महत्व की मान्यता प्रदान किया जाना उस स्थान को विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान किए जाने से संकल्पनात्मक रूप से भिन्न है । राम जन्मभूमि हिंदुओं के लिए नि:संदेह रूप से धार्मिक महत्व का स्थान है, जो इस आस्था और विश्वास पर आधारित है कि यही भगवान राम का जन्मस्थान है । इस न्यायालय द्वारा इस बाबत विनिर्धारण कि क्या विवादित स्थल न्यायिक व्यक्ति है या नहीं, किसी भी दृष्टि से हिंदू समुदाय की आस्था और विश्वास के महत्व को कम नहीं कर सकता ।

137. वादी संख्या 5 की तरफ से उपस्थित विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि द्वितीय वादी विधिक व्यक्ति है, अनेक निर्णयज विधियों का अवलंब लिया । इन विनिश्चयों का गंभीरतापूर्वक परिशीलन किए जाने पर यह उपदर्शित होता है कि काउंसेल ने अपनी दलील के समर्थन में कुछ चुने हुए उद्धरणों का अवलंब लिया है कि विवादित स्थल विधिक व्यक्ति है । उन उद्धरणों, जिनका उन्होंने वाद संख्या 5 में वादी द्वारा दी गई दलीलों का समर्थन करते हुए अवलंब लिया, की सीमा को विनिर्धारित किए जाने के प्रयोजनार्थ यह आवश्यक होगा कि उन अवलंबित मामलों का विश्लेषण किया जाए और उस संदर्भ का परीक्षण किया जाए जिनमें उन मामलों का न्यायनिर्णयन किया गया ।

138. **मनोहर गणेश ताम्बेकर** बनाम **लक्ष्मी राम गोविन्द राम** (उपरोक्त) वाला मामला वादी द्वारा संस्थित कराया गया ऐसा मामला था जिसमें वादी देवता को समर्पित मंदिर की धार्मिक आधारशिला के रखरखाव के प्रति हितबद्ध था । वादी ने प्रतिवादियों, जो मंदिर में चढ़ाए जा रहे चढ़ावे के प्राप्तकर्ता थे, को समुचित न्यासियों के रूप में जिम्मेदार ठहराए जाने की ईप्सा की थी । प्रतिवादियों का दावा था कि वे आत्यंतिक रूप से मंदिर के स्वामी हैं और वे मंदिर में चढ़ाए गए समस्त चढ़ावे को निजी संपत्ति के रूप में धारित करते हैं । बाम्बे उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि यह संभव है कि निजी समाज विद्यमान हों, फिर भी इंग्लिश विधि के अंतर्गत कोई संघ (समाज), जिसमें व्यक्तियों के घटने बढ़ने वाले या अपरिभाषित वर्ग समाविष्ट हो सकते हों, चाहे वह संघ (समाज) पूर्त प्रयोजनों के लिए विद्यमान हो या नहीं, में संपत्ति समाहित नहीं हो सकती, जब तक कि उसका (संघ या समाज) आमेलन न हो जाए । तथापि, प्रतिवादियों ने स्वयं को मूर्ति के चरणों में एकत्रित अर्पित वस्तुओं के मूल्य के चढ़ावे से उत्पन्न होने वाले राजस्व के कर्ताधर्ताओं के निकाय के रूप में प्रस्तुत किया । न्यायमूर्ति आर. वेस्ट ने न्यायालय की ओर से निर्णय पारित करते हुए यह मताभिव्यक्ति की :–

> "9. इस मामले में श्री रणछोड़ रायजी की मूर्ति के अनेक दानदाताओं को सम्मिलित करते हुए अभिलिखित साक्ष्य से यह

दर्शित होता है कि किसी धार्मिक कर्तव्य का निर्वहन किए जाने या देवता को चढाए गए उपहारों द्वारा धार्मिक गुणागुण अर्जित किए जाने का आधार है किंतु हम इस बात में बिल्कुल भी हितबद्ध नहीं हैं कि इसके पश्चात् कौन सी वस्तु चढावा बन जाती है.... फिर भी वह उचित और सुव्यवस्थित पूजन की व्यवस्था बनाए रखने से संबद्ध है और उसको ऐसा करने की आवश्यकता भी है । ... उसकी अपेक्षा है कि नियमित और निरंतर रूप से या कम से कम एक निश्चित अवधि के अंतराल में पवित्र अनुष्ठान, जो विफल हो सकते हैं, यदि विगत वर्षों में चढाए गए चढावे में फिजूलखर्ची की जाए जबकि विगत वर्षों में चढाया गया चढावा अल्प प्रतीत हो रहा है । ऐसा प्रतीत होता है कि सेवकों ने अचल और चल, दोनों प्रकार की संपत्तियों का चढ़ावा जानबूझकर प्राप्त किया था, यद्यपि उनके द्वारा जानबूझकर चढ़ावा प्राप्त किए जाने का निर्णय उलझन भरा निर्णय था कि वे चढ़ावा में चढ़ाई जाने वाली निधियों को प्राप्त करने और तत्पश्चात् उन निधियों को मूर्ति के पूजन और यात्रियों, जो दर्शन के लिए मंदिर में आते हैं, की सुविधा के लिए उपलब्ध कराने के लिए बाध्य थे ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

सेवकों (प्रतिवादियों) ने मंदिर की देखभाल के अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार किया । मूल्यवान वस्तुओं को भंडारी के पास भेजा जाना था । इस संदर्भ में माननीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :–

"11. ... इस मामले में श्री मैकफर्सन ने इस मामले के प्रतिवादियों की तरफ से स्वीकार किया कि वे श्री रणछोड़ रायजी की मूर्ति को समर्पित भूमियों का विक्रय नहीं कर सकते । यह निर्बंधन कुछ इसी प्रकार का निर्बंधन है जिसके द्वारा सम्राट ने किसी भी परिस्थिति में समर्पित की जा चुकी भूमियों के अन्य संक्रामण से इनकार कर दिया था [व्याव, मई, अध्याय IV खंड VII पृष्ठ 23 नवंबर, 120 कैप 10] । यह उस विधिक व्यक्ति, जिसे डाकोर स्थित प्रतिमा का प्रतीक माना गया या उसको प्रतिमा का व्यक्तित्व प्रदान किया गया, को प्रदान की जाने वाले अनुदानों के

संगत था । यह उस विधिक व्यक्ति के संगत नहीं था, जिसको मात्र एक गुलाम की भांति परिकल्पित किया जाता है या संपत्ति के उन सेवकों की भांति परिकल्पित किया जाता है, जिनके आत्यंतिक स्वत्व का तात्पर्य स्वामित्व से नहीं बल्कि ईश्वर की सेवा से था । यह वास्तव में विचारधारा का जानबूझकर किया गया भ्रम न भी हो, तो भी विश्लेषण की बात है जिसके द्वारा प्रतिवादियों ने श्री रणछोड़ रायजी को उपहारों और सम्मान देने वाले आर्शीवाद आमंत्रित किए जाने के प्रयोजनार्थ पत्थर के मात्र खंड के रूप में देवता के रूप में स्थापित किया गया था और उनकी संपत्ति को प्रत्येक उपहार के रूप में विनियोजित किए जाने के प्रयोजनार्थ उनके चरणों में अर्पित कर दिया गया था । ... किंतु यदि कोई विधिक व्यक्ति विद्यमान है, तो अधिकारों का यह कृत्रिम विषय अधिकारों के केंद्र के रूप में किसी पवित्र या परोपकारी विचार के आदर्श प्रतिमान के रूप में नकदी और जेवरातों का चढावा प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार से समर्थ है, जैसेकि भूमि का चढावा ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

इस विनिश्चय के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विधिक व्यक्ति के रूप में प्रतिमा किसी पवित्र या परोपकारी विचार का 'आदर्श प्रतिमान' होती है । विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रतिमा को एक अस्तित्व के रूप में प्रदान की गई थी, जिसमें स्वयमेव वह हैसियत ही सम्मिलित करती है, जिसमें संपत्तियां और चढ़ावा निहित होता है । इस मामले में की गई मताभिव्यक्ति इस स्थिति की पुष्टि करती है कि विधिक व्यक्तित्व पवित्र प्रयोजन के लिए प्रदान किया गया था और जिस संपत्ति की विन्यास की गई या जिस संपत्ति का संग्रहण किया गया, स्वयमेव ही विधिक अस्तित्व नहीं बन जाती । विन्यास के अंतर्गत आने वाली संपत्ति विधिक व्यक्ति नहीं होती है । विधिक व्यक्ति वह प्रतिमा होती है जिसको किसी पवित्र प्रयोजन के प्रतिमान के रूप में विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है और जिसमें संपत्ति निहित होती है ।

139. प्रत्यर्थी ने **रामपत** बनाम **दुर्गा भारती**[1] वाले मामले में निपटारा विलेख के अंतर्गत 'स्थान' का महंत होने का दावा यह अभिकथित करते हुए किया कि उसको उन संपत्तियों का कब्जा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है, जो परेला के 'स्थान' से संबंधित हैं । श्री घटारी नाम एक व्यक्ति ने परेला नामक 'स्थान' पर एक मठ का निर्माण किया था और उसके भवन को अपनी पवित्र बंधुत्व तपस्या की सेवा के लिए समर्पित कर दिया और संस्था के रखरखाव के लिए वादग्रस्त ग्राम को क्रय कर लिया । न्यायमूर्ति नज़ीर हसन ने अवध विधिक आयुक्त के न्यायालय की तरफ से निर्णय पारित करते हुए 'स्थान' की प्रकृति के बाबत यह अभिनिर्धारित किया :–

> "मेरे विचार में परेला का स्थान, जिसकी खोज की गई पूर्णतया प्राचीन काल के मठों के प्रकार का था । विभिन्न विधिक संकल्पनाएं, जो पूर्ववर्ती वृत्तांत से प्रकट होती हैं, को निम्नलिखित शब्दों में अभिकथित किया जा सकता है –
>
> (1) <u>यह संयासियों, ब्रह्मचारियों और योगियों का संगम है, जिन्होंने स्वयं को सांसारिक बंधनों से पूर्णतया मुक्त कर लिया है</u> ।
>
> (2) स्थान से संबंधित संपत्तियां स्थान के कार्यों के प्रयोजनार्थ न्यास में निहित होती हैं ।
>
> (3) स्थान के प्रयोजनों में श्रद्धालुओं के सेवार्थ रखरखाव और दान का प्रचार-प्रसार सम्मिलित होता है ।
>
> (4) स्थान का प्रमुख संस्था का न्यासी होता है, जिसके साथ संपत्तियां संलग्न होती हैं ... <u>अत: कोई स्थान आवश्यकत: संयासियों, ब्रह्मचारियों और योगियों की संस्था होती है जिसका संपदा या परिवार के साथ कोई सांसारिक संबंध नहीं होता</u> ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

उपरोक्त को दृष्टि में रखते हुए 'स्थान' से तात्पर्य किसी भवन से

---

[1] ए. आई. आर. 1920 अवध 258.

नहीं था बल्कि धार्मिक अध्ययन के स्थान से था । अत: 'स्थान' की प्रकृति इस बात को सुस्पष्टत: स्पष्ट करती है कि 'स्थान' को किसी सांसारिक संपत्ति के रूप में नहीं माना जाना चाहिए बल्कि इसको अध्ययन की पूर्त संस्था के रूप में माना जाना चाहिए जिसको विधिक व्यक्ति के रूप में माना जाता था । कोई भौतिक संपत्ति, जो मठ नहीं थी, को विधिक व्यक्ति नहीं माना जाता था । न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह स्थान विधिक व्यक्ति के रूप में पूर्त संस्था थी, जिसमें वादग्रस्त ग्राम निहित होते थे ।

140. प्रत्यर्थियों ने **राम ब्रह्म चटर्जी** बनाम **केदारनाथ बनर्जी**[1] वाले मामले में घोषणा के अनुतोष के लिए वाद इस बाबत संस्थित कराया कि वे उस भोग में भाग लेने के हकदार हैं, जो तीनों प्रतिमाओं को अर्पित किया जाता है और जिनको प्रत्यर्थियों और अपीलार्थी के समान पूर्वजों द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था । उनके द्वारा एक मंजिल का निर्माण कराया गया था और संपत्तियों को मूर्तियों को समर्पित कर दिया गया था । प्रत्यर्थियों ने मंदिर के संस्थापकों के उत्तरजीवियों के रूप में अपनी पुत्रियों के माध्यम से भोग में भाग लेने की प्रथा में सम्मिलित होने के अधिकार का दावा किया और निचले न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पुरुषों की पंक्ति वाले उत्तरजीवी ही निरंतर रूप से शिबायत की भूमिका निर्वाह करते चले आ रहे हैं । जो प्रश्न विनिर्धारण के प्रयोजनार्थ उद्भूत हुआ वह यह था कि क्या मंदिर के संस्थापक यह निर्देषित किए जाने के लिए सक्षम थे कि शिबायत का पद पुत्र के माध्यम से आने वाले उत्तरजीवियों में निहित होना चाहिए और पुत्रियों के माध्यम से आने वाले उत्तरजीवियों को भोग अर्पित किए जाने के कार्यक्रम में भाग लिए जाने का अधिकार होना चाहिए । इस मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :–

> "... किसी पूर्त निगम, जहां तक उसके पूर्त प्रयोजनों के लिए अस्तित्व में होने का संबंध है, का सृजन संस्थापक द्वारा किया जाता है ... इस बाबत कोई कारण नहीं है कि संस्थापक, जो सरकार और न्यास के प्रशासन के लिए उपबंधित करने के लिए

---

[1] (1922) 36 सी. एल. जे. 478.

> सक्षम है, को उसके प्रबंधन, धार्मिक और पूर्त न्यास के रूप में उसकी प्रकृति के असंगत नहीं है, के लिए निर्देश देने के समर्थ नहीं होना चाहिए ...। प्रत्येक मामले में परीक्षण की विषयवस्तु यह है कि क्या संस्थापक द्वारा जारी निर्देश धार्मिक और पूर्त न्यास के रूप में विन्यास की प्रकृति के असंगत है और शाश्वतता की विधि के अपवंचन के लिए एक आभाषी युक्ति है ।"

न्यायालय ने उल्लेख किया कि लगभग दो शताब्दियों से भी अधिक समय से शिबायत के अधिकार उनके वंशजों, जो उनके पुत्र हैं, में निहित रहे हैं और उनकी पुत्रियों ने भोग चढ़ाए जाने के कार्यक्रम में भाग लेने के अधिकार का निर्वहन किया है । न्यायालय ने इस संदर्भ में अभिनिर्धारित किया कि लंबी अवधि से प्रयोग किए जाने के कारण इन अधिकारों में मध्यक्षेप इस बात को प्रश्नगत किए बिना संभव नहीं होगा और इस अधिकार के पक्ष में युक्तिसंगत उपधारणा की जाएगी । वाद संख्या 5 के वादियों ने इस मामले में की गई मताभिव्यक्ति का अवलंब लिया कि देवता को वास्तविकता में जीवित व्यक्ति प्रतीत किया जाता है । न्यायालय ने इस संदर्भ में यह उल्लेख किया कि :–

> "... किसी जीवित व्यक्ति को दिए गए उपहार और किसी देवता को समर्पित चढ़ावे के मध्य मूलभूत रूप से अंतर होता है । इसके विपरीत विशेष रूढ़ियों के अध्ययधीन रहते हुए चढ़ावा किसी पीठासीन पुजारी की संपत्ति नहीं हो जाती, बल्कि उसका प्रयोग समस्त अधिकारों के साथ दान के रूप में मठ के रखरखाव और अनुष्ठानों के प्रयोजनार्थ किया जाता है .... <u>यह अभिकथित किया जाना पर्याप्त होगा कि संक्षेप में देवता को किसी जीवित व्यक्ति की भांति परिकल्पित किया जाता है और उनके साथ उसी प्रकार से व्यवहार किया जाता है जैसेकि घर के स्वामी के साथ उसके विनयपूर्ण सेवक द्वारा किया जाता है । देवता के नित्य कार्यक्रम अत्यधिक सूक्ष्मतापूर्वक संपन्न किए जाते हैं; उनकी जीवंत छवि को जीवन की समस्त आवश्यकताओं और विलासताओं को क्रमानुसार पूर्ण किए जाने के प्रयोजनार्थ दावत दी जाती है, यहां तक कि उनके वस्त्र भी बदले जाते हैं, पके हुए और बिना पके हुए भोजन का चढ़ावा अर्पित किया जाता है और तत्पश्चात् उनको विश्राम भी</u>

करा‍या जाता है । समर्पित भोजन, जिसको भोग कहा जाता है, को पूजन की समाप्ति के पश्चात् परिवार के सदस्यों और साथ ही अतिथियों, चाहे वे आमंत्रित अतिथि हों या बिना आमंत्रित, के मध्य भोग के रूप में वितरित किया जाता है; ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि प्राचीनतम ब्राहमणवादी लेखों में आतिथ्य का निर्वहन मानवता के सामान्य कर्ज को चुकाए जाने के रूप में माना गया है और अतिथि को देवता के रूप में सम्मान दिया गया है । हमारे विचार में इस बाबत कोई निर्देश दिया जाना विन्यास के प्रयोजनार्थ असंगत नहीं है कि क्या किसी मठ के संस्थापक की पुत्रियों के वंशजों को ऐसे पवित्र भोजन (प्रसाद) के वितरण में भाग लेना चाहिए ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

देवता का किसी वास्तविक व्यक्ति के रूप में पूजन किए जाने का पृथक् तरीका होता है और वह तरीका विधि की दृष्टि में विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से भिन्न होता है । मानवीय व्यक्तित्व विधिक व्यक्तित्व से भिन्न होता है । न्यायालय ने श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास के अनुसार किसी स्थापित देवता, का पूजन संपादित किए जाने के तरीकों को संदर्भित किया है । इस मामले में किसी विधिक व्यक्ति का प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ ।

141. तत्पश्चात् वाद संख्या 5 के वादियों ने **मदुरा तिरुप्परनकुंदरम** बनाम **अलीखान साहेब**[1] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए विनिश्चय का अवलंब लिया । इस मामले में यह दलील दी गई कि एक संपूर्ण पहाड़ी को सार्वजनिक पूजा स्थल के स्थान के रूप में उसके चारों तरफ की जाने वाली परिक्रमा के आधार पर विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान कर दी गई है । परिणामस्वरूप (यह दलील दी गई कि) वर्तमान मामले में विवादित स्थल के चारों तरफ परिक्रमा किए जाने के कारण उस भूमि, जिस पर पहाड़ी विद्यमान है, को विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रदान की जानी चाहिए ।

142. प्रिवी कौंसिल ने **मदुरा तिरुप्परनकुंदरम** बनाम **अलीखान साहेब** (उपरोक्त) वाले मामले में मद्रास के मदुरा जिले में बंजर पहाड़ी के

---

[1] 1931 (61) मद्रास ला जर्नल 285.

स्वामित्व के प्रश्न पर विचार किया तिरुप्परनकुंदरम मंदिर, जिसका प्रतिनिधित्व मंदिर के प्रबंधक द्वारा किया गया, ने यह दावा करते हुए वाद संस्थित कराया कि संपूर्ण पहाड़ी मंदिर की संपत्ति है (सिवाय कतिपय कृषि योग्य भूमि और मूल्यांकित भूमि के और उस स्थल के जिस पर मस्जिद विद्यमान है) । मुस्लिम प्रतिवादियों ने मस्जिद और पहाड़ी के एक भाग (जिसको नेल्लनीटोप कहा जाता है) पर स्वामित्व का दावा करते हुए अभिकथन किए । सेक्रेटरी आफ स्टेट ने पहाड़ी पर स्थित उन समस्त भागों के स्वामित्व का दावा किया, जो अधिभोग के अधीन थे । मदुरा के अधीनस्थ न्यायाधीश ने वाद वादियों के पक्ष में डिक्री कर दिया (किंतु इस निर्णय में नेल्लनीटोप, मस्जिद और पहाड़ी के ऊपर की तरफ जाने वाली सीढ़ियों के बाबत कोई निर्णय पारित नहीं किया गया) । मुस्लिम प्रतिवादियों ने इस निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की और अपील न्यायालय द्वारा सेक्रेटरी आफ स्टेट को अपील में पक्ष बनाए जाने के लिए निर्देशित किया । अपील न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष अभिलिखित किए जाने के बावजूद की हिंदुओं और मुस्लमानों, दोनों को पहाड़ी पर अधिकार प्राप्त हैं और इस बात को विनिर्दिष्ट किए बिना कि ये अधिकार क्या हैं, यह अभिनिर्धारित किया कि पहाड़ी का स्वामी सरकार है । श्रद्धालु पहाड़ी के आधार के चारों तरफ पहाड़ी का चक्कर लगाते हुए परिक्रमा करते हैं । परिक्रमा के इस मार्ग को मंदिर की कार, जिसको घिरी विधि कहा जाता है, के साथ जुलूस निकाले जाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है । यद्यपि उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में अभिलेख पर उपलब्ध इस साक्ष्य का उल्लेख किया कि हिंदू समुदाय द्वारा संपूर्ण पहाड़ी की लिंग के रूप में पूजा की जाती है, किंतु घिरी विधि के भीतर पहाड़ी के अधिभोगाधीन भागों पर स्वामित्व के प्रश्न से संबद्ध विवाद मुख्य विवाद है । वर्ष 1801 में मदुरा अजीम उल दौला और लॉर्ड क्लाइव के मध्य संपन्न हुई प्रसंविदा के अंतर्गत ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रण के अंतर्गत आ गया । उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि वर्ष 1801 के पूर्व संपूर्ण पहाड़ी ग्राम का भाग होने के नाते सरकार की संपत्ति हो गई थी ।

143. इस निर्णय के विरुद्ध अपील किए जाने पर प्रिवी कौंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि मंदिर द्वारा शताब्दी के अधिकांश भाग के

दौरान भूमि के समस्त भागों, जो अधिभोग के अंतर्गत नहीं थे, के संबंध में स्वामित्व के अधिकारों का प्रयोग निरंतर रूप से किया जाता रहा है । घिरी विधि के अंतर्गत स्थित छोटे-छोटे मंदिरों के रखरखाव में भी खर्चे उपगत हुए थे । यह अभिनिर्धारित किया गया कि मंदिर प्राचीन काल से पहाड़ी के उन भागों के कब्जे में रहा है, जो किसी के अधिभोग के अंतर्गत नहीं थे और जिनको मंदिर द्वारा अपनी संपत्ति की भांति प्रतीत किया जाता रहा है । प्रिवी कौंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि सिवाय मस्जिद के पहाड़ी के शेष बचे भाग पर कब्जे का कोई साक्ष्य उपस्थित नहीं पाया गया । सर जॉर्ज लोंडेस ने यह अभिनिर्धारित किया :–

> "केवल वे अधिकार जिनके बाबत मंदिर प्रत्यर्थी के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक दावा कर सकता है, वे अधिकार हैं जिनको उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्रदान किया गया था या प्रतिधारित करते रहने की अनुज्ञा प्रदान की थी .... और माननीय न्यायमूर्ति यह समझते हैं कि साक्ष्य के आधार पर यह दर्शित होता है कि मंदिर को वर्ष 1801 के पश्चात् अविवादित कब्जे की स्थिति में उन समस्त अधिकारों के साथ, जिनका आज दावा किया जा रहा है, छोड़ दिया गया था ... माननीय न्यायमूर्ति को इस बाबत कोई संदेह नहीं है कि इस बाबत कोई सामान्य उपधारणा विद्यमान है कि <u>बंजर भूमि</u> सम्राट की संपत्ति है, किंतु वे यह समझते हैं कि वर्तमान मामले के तथ्यों के संबंध में लागू नहीं होता कि <u>अभिकथित रूप से बंजर भूमि कहां है, जो किसी भी स्थिति में भौतिक रूप से मंदिर के प्रांगण के भीतर स्थित है</u> ... इन सब बातों के बावजूद माननीय न्यायमूर्तियों का यह विचार है कि अपीलार्थी ने इस बात को साबित कर दिया है कि पहाड़ी के वे भाग <u>जो किसी अधिभोग के अंतर्गत नहीं हैं</u>, प्राचीन काल से मंदिर के कब्जे में रहे हैं और जिनको मंदिर प्राधिकारियों द्वारा उनकी संपत्ति प्रतीत किया जाता है ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

निर्णय को ध्यानपूर्वक पढ़े जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रिवी कौंसिल मात्र (I) भूमि के उन भागों से संबद्ध थी, जो किसी के अधिभोग के अंतर्गत नहीं थे और पहाड़ी के अन्य भागों पर मालिकाना हक से संबद्ध थी; और (II) वह मंदिर द्वारा संपत्ति के स्वामित्व से भी संबद्ध

थी । प्रिवी कौंसिल पहाड़ी को विधिक व्यक्ति का दर्जा प्रदान किए जाने से संबद्ध नहीं थी । मंदिर द्वारा संपत्ति के स्वामित्व और भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के मध्य अंतर होता है । जहां भूमि किसी व्यक्ति के स्वामित्व के अंतर्गत होती है, तो वह विधिक व्यक्ति नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी व्यक्ति विधिक व्यक्ति के रूप में किसी देवता पर स्वामित्व नहीं रख सकता । यह मामला वाद संख्या 5 में वादियों द्वारा प्रस्तुत की गई दलीलों की पुष्टि नहीं करता कि विवादित संपत्ति स्वयमेव ही विधिक व्यक्ति है ।

कानून द्वारा शासित मंदिर

144. हिंदू धार्मिक विन्यास के लिए **आयुक्तों का बोर्ड, मद्रास** बनाम **पिड्गू नरसिंघम**[1] वाले मामले में बोर्ड ने इस आधार पर एक योजना विरचित की कि प्रश्नगत संस्था 1863 के मद्रास हिंदू धार्मिक विन्यास अधिनियम के अर्थान्तर्गत एक मंदिर था । प्रत्यर्थी ने संस्था को अधिनियम के अंतर्गत मंदिर घोषित किए जाने को चुनौती देते हुए एक वाद संस्थित कराया । मद्रास उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने मताभिव्यक्ति की कि यह संस्था अनेक सदियों से विद्यमान है और समय के व्यतीत होने के साथ-साथ इस संस्था ने एक पूजा स्थल का रूप ले लिया है । न्यायालय ने मताभिव्यक्ति की कि लोक विन्यास को आकर्षित किए जाने के प्रयोजनार्थ पूजन को पर्याप्त रूप से महत्व दिया जाना चाहिए । संस्था के भीतर चलाए जा रहे कार्यक्रमों का मूल्यांकन किए जाने पर न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि संस्था के भीतर सार्वजनिक रूप से धार्मिक पूजा-पाठ किया जा रहा था । अत: उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि बोर्ड अधिनियम के अंतर्गत योजना विरचित करने के लिए प्राधिकृत था । न्यायमूर्ति वारादाचारियार ने यह मताभिव्यक्ति कि :-

> "इस प्रश्न का परीक्षण किया जाना है कि क्या यह आगमा शास्त्र की किसी विशिष्ठ शाखा के पुष्टिकरण में है; हम समझते हैं कि इस प्रश्न को उस वर्ग के लोगों के विचारों के संदर्भ में निर्णीत किया जाना चाहिए, जो पूजन में भाग लेते हैं । यदि वे इस पूजन

---

[1] (1939) 1 मद्रास ला जर्नल 134.

की धार्मिक प्रभावोत्पादकता में विश्वास करते हैं, तो इस भाव में कि वे इस प्रकार का पूजन किसी अतिमानव (सुपरमैन) की शक्ति का पुरस्कार प्राप्त करने के उद्देश्य से कर रहे हैं और इस प्रकार के पूजन को 'धार्मिक पूजन' माना जाना चाहिए ।"

145. वाद संख्या 5 में वादियों की ओर से उपस्थित श्री पारासरण ने इस उद्धरण के आधार पर दलील दी कि इस आस्था और विश्वास के साथ कि विवादित स्थल के चारों तरफ परिक्रमा किए जाने के द्वारा कि भगवान राम का जन्मस्थान है, श्रद्धालु यह विश्वास करते हैं कि उनको इस धार्मिक पूजन से आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होंगे । उन्होंने दलील दी कि इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाना पर्याप्त होगा कि द्वितीय वादी का स्थान लेने वाली भूमि विधिक व्यक्ति है । **पिडूगू नरसिंघम** (उपरोक्त) वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियां इस मूल्यांकन के संदर्भ में थीं कि क्या इस तथ्य के विनिर्धारण के प्रयोजनार्थ कि क्या प्रश्नगत संस्था अधिनियम के अंतर्गत मंदिर था, अनुष्ठानों के संपादन का अर्थ 'लोक धार्मिक पूजन' है । इस बाबत कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ कि मंदिर एक विधिक व्यक्ति है । यह मामला अधिक से अधिक वाद संख्या 5 में वादियों द्वारा प्रस्तुत की गई इस प्रतिपादना का समर्थन करता है कि विवादित स्थल पर अनुष्ठापित पूजन की प्रकृति धार्मिक प्रकृति की है ।

146. श्री पारासरण ने **टी. आर. के. रामास्वामी सरवाई** बनाम **हिंदू धार्मिक विन्यास के लिए आयुक्तों का बोर्ड, मद्रास**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का अवलंब यह दलील देने के प्रयोजनार्थ लिया कि धार्मिक पूजन के संबंध में किसी प्रतिमा की उपस्थिति एक अपरिहार्य अपेक्षा होती है और न्यायालय के लिए विवादित भूमि के चारों तरफ परिक्रमा किए जाने के साथ-साथ पूजन करने वालों की आस्था और विश्वास विवादित स्थल को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ पर्याप्त होगा । **टी. आर. के सरवाई** (उपरोक्त) वाले मामले में एक दान विलेख यह घोषणा करते हुए निष्पादित किया गया था कि एक मंदिर देवस्थानम् के पक्ष में कतिपय

---

[1] आई. एल. आर. 1950 मद्रास 799.

भूमि की विन्यास की गई थी और उस भूमि पर एक मंदिर निर्माणाधीन था । दानकर्ता के अतिरिक्त दो न्यासियों की भी नियुक्ति की गई थी । वर्ष 1937 में हिंदू धार्मिक विन्यास बोर्ड ने इस अवधारणा के आधार पर न्यासियों से अंशदान की मांग की कि मंदिर का निर्माण पूर्ण हो चुका है । अपीलार्थियों द्वारा इसका विरोध इस आधार पर किया गया कि मंदिर का निर्माण नहीं किया गया और किसी प्रतिमा को स्थापित नहीं किया गया । अत: 1926 के मद्रास हिंदू धार्मिक विन्यास अधिनियम की परिधि के अंतर्गत इस निर्माण को मंदिर घोषित नहीं किया जा सकता । तत्पश्चात्, मंदिर के प्रबंध की एक योजना विरचित किए जाने की ईप्सा की गई ।

147. न्यायालय द्वारा संबोधित अनेक विवाद्यकों के मध्य एक विवाद्यक ऐसा है जो अधिनियम के प्रयोजनार्थ विधिमान्य मंदिर की विद्यमानता से संबंधित है । खंड न्यायपीठ के दोनों न्यायाधीशों के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गए थे और इसलिए मामले को तृतीय न्यायाधीश को निर्दिष्ट किया गया था । न्यायमूर्ति विश्वनाथ शास्त्री ने इस बाबत सहमत होते हुए कि अधिनियम के प्रयोजनार्थ एक मंदिर विद्यमान था, यह अभिनिर्धारित किया :–

> "... हिंदू विधि देवता को स्थापित किए जाने और उनके पूजा स्थल के रखरखाव के प्रयोजनार्थ चढ़ावा समर्पित किए जाने की विधिमान्यता को मान्यता प्रदान करती है । यह कहना अतात्विक होगा कि देवता की प्रतिमा स्थापित नहीं की जा सकती जब तक कि उसके लिए कोई दान या वसीयत निष्पादित नहीं कर दिया जाता । ... यहां पर इस बात का परीक्षण नहीं किया जाना है कि क्या किसी प्रतिमा को स्थापित किया जाना और उसके पूजन का तरीका आगम शास्त्र के किसी विशिष्ट दर्शन के पुष्टिकरण में है । यदि जनता या जनता का कोई विशिष्ट वर्ग, जो पूजन के लिए जाते हैं, इस बाबत विचार करते हैं कि किसी विशिष्ट स्थान पर किसी दिव्य शक्ति की उपस्थिति है और उस स्थान पर पूजन किए जाने पर उनको ईश्वर की भक्ति या आर्शीवाद प्राप्त होने की संभावना है, <u>अत: आपके द्वारा निर्मित मंदिर में वे समस्त आवश्यक लक्षण मौजूद हैं जैसाकि अधिनियम की धारा 9, खंड 12</u>

<u>में यथापरिभाषित । यद्यपि किसी प्रतिमा की उपस्थिति किसी भी हिंदू मंदिर का स्थायी लक्षण होता है, फिर भी यह अधिनियम की धारा 9, खंड 12 में समाविष्ट मंदिर की परिभाषित के अधीन विधिक अपेक्षा नहीं है</u> ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियां इस बात का निर्धारण किए जाने के प्रयोजनार्थ थी कि संस्था के लिए किसी प्रतिमा की उपस्थिति अपेक्षित थी जिससे कि उस संस्था को 1926 के मद्रास हिंदू धार्मिक विन्यास अधिनियम की धारा 9 के अधीन मंदिर के रूप में परिभाषित किया जा सके । न्यायालय ने इस संदर्भ में अभिनिर्धारित किया कि श्रद्धालुओं का यह विश्वास कि उनको ईश्वर का आर्शीवाद प्राप्त होगा, अधिनियम के अधीन संस्था को मंदिर अभिनिर्धारित किए जाने के लिए पर्याप्त था । न्यायालय द्वारा की गई यह मताभिव्यक्तियां अधिक से अधिक इस बात की पुष्टि करती हैं कि श्रद्धालुओं का यह विश्वास कि किसी सार्वजनिक पूजा स्थल को पूजा स्थल का दर्जा प्रदान किए जाने के लिए ईश्वर की दिव्य उपस्थिति अपेक्षित होती है । तथापि, वह उपस्थिति विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से भिन्न होती है । इस बाबत न्यायनिर्णयन की कोई संस्था कानूनी अधिनियमिती के प्रयोजनार्थ मंदिर है, इस विवाद्यक से भिन्न है कि क्या वह संस्था विधिक व्यक्तित्व धारण करती है । इस मामले में की गई मताभिव्यक्ति कानूनी परिभाषा के विनिर्दिष्ट संदर्भ में की गई थी और उस परिभाषा को किसी धार्मिक उपासना के स्थान, जिसके लिए कोई कानूनी अधिनियमिती विद्यमान नहीं है, के संबंध में लागू नहीं किया जा सकता ।

148. इसी प्रकार के प्रश्न का न्यायनिर्णयन **वेंकटरमणा मूर्थी** बनाम **श्रीराम मंधीराम**[1] वाले मामले में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा किया गया था, जिसका इस मामले में अवलंब लिया गया है । इस मामले में न्यायालय से इस प्रश्न का निर्धारण किए जाने की अपेक्षा की गई थी कि क्या किसी पूजा स्थल के मामले में प्रतिमा का स्थापित होना एक पूर्वापेक्षा है, जिसके आधार पर उस पूजा स्थल को 1951 के हिंदू धार्मिक

---

[1] (1964) 2 ए. एन. डब्ल्यू. आर. 457.

और पूर्त विन्यास अधिनियम के अधिक्षेत्र के भीतर मंदिर माना जा सकता है । न्यायालय ने इस बात की पुष्टि की कि किसी भी संस्था के लिए यह पर्याप्त होगा कि अधिनियम के अंतर्गत मंदिर घोषित किए जाने के प्रयोजनार्थ यह पर्याप्त होगा कि उस संस्था में सार्वजनिक रूप से धार्मिक उपासना की विद्यमानता हो और उसके प्रति समर्पण की भावना हो, चाहे वहां पर प्रतिमा अनुपस्थित हो । यह न्यायालय वाद संख्या 5 में वादियों के पक्षकथन का समर्थन नहीं करता ।

149. **कामराजू वेंकट कृष्ण राव** बनाम **उप-कलक्टर ओंगोले**[1] वाले मामले, जिसका अवलंब अत्यधिक महत्व प्रदान करते हुए लिया गया, में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष विचारार्थ यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि क्या किसी ताल को 1956 के आंध्र ईनामों (रय्यतवाड़ी अधिनियम में उन्मूलन और संपरिवर्तन) के अर्थान्तर्गत पूर्त संस्था के रूप में विचारित किया जा सकता है । साथ ही यह प्रश्न भी उद्भूत हुआ कि यह तथ्य अज्ञात था कि प्रश्नगत इनाम किसके द्वारा प्रदान किया गया । अपीलार्थी ने इस बाबत घोषणा की ईप्सा की कि इनाम में समाविष्ट संपत्ति को उसके नाम में रजिस्ट्रीकृत किया जाए । इस दलील को अधिनियम के अंतर्गत सक्षम प्राधिकारियों द्वारा इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि अभिलेखों के अंतर्गत स्वयमेव ताल को ही इनाम प्रदान किया गया था और अपीलार्थी के पूर्वज पूर्त संस्था, जो ताल था, के मात्र प्रबंधक थे । अपीलार्थी द्वारा यह दलील दी गई कि यद्यपि पूर्त प्रयोजनों के लिए इनाम प्रदान किया गया था, फिर भी दान का उद्देश्य एक ताल था जिसको पूर्त संस्था नहीं माना जा सकता था । इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की तरफ से न्यायमूर्ति के. एस. हेगड़े ने यह अभिनिर्धारित किया :-

> "उपरोक्त चर्चा के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदू विधि के अधीन कोई ताल दान का स्थान हो सकता है और जब किसी ताल के पक्ष में कोई समर्पण किया जाता है, तो उस ताल को पूर्त संस्था माना जाता है । <u>हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए इस बाबत निर्णय किया जाना आवश्यक नहीं है कि क्या उस संस्था (ताल) को</u>

---

[1] [1969] 1 एस. सी. आर. 624.

> भी विधिक व्यक्ति माना जा सकता है । यदि एक बार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह इनाम जिसके संबंध में हम वर्तमान मामले में संबद्ध हैं 'उराचेरुवू' (ताल) के पक्ष में इनाम था और उस ताल को अधिनियम के अंतर्गत पूर्त संस्था माना जाना चाहिए ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

न्यायालय से केवल यह अपेक्षित था कि वे इस बाबत निर्धारित करे कि किसी ताल को 1956 के आंध्र इनाम (उन्मूलन और रय्यतवाड़ी अधिनियम में संपरिवर्तन) के अर्थान्तर्गत 'पूर्त संस्था' माना जा सकता है । अत:, इस बात का सुस्पष्टत: स्पष्टीकरण दिया गया कि इस बात का उल्लेख किए जाने की आवश्यकता नहीं है कि कोई ताल विधिक व्यक्ति है या नहीं । यह मामला वाद संख्या 5 के वादियों द्वारा दी गई दलीलों के आधार पर आगे नहीं बढ़ सकता ।

शिरोमणि गरुद्वारा प्रबंधक कमेटी

150. इस प्रक्रम पर यह आवश्यक है कि **शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर** बनाम **सोमनाथ दास**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का उल्लेख किया जाए । इस मामले में दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि गुरु ग्रंथ साहिब विधिक व्यक्ति हैं । वाद संख्या 5 में वादियों की तरफ से उपस्थित विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री पारासरण ने इस विनिश्चय का दृढ़तापूर्वक अवलंब यह दलील लेते हुए लिया कि इस न्यायालय ने किसी ऐसे व्यक्ति को विधिक व्यक्ति अभिनिर्धारित किया है, जो भौतिक रूप से और प्रतिबंधित रूप से संपत्ति धारण करने का अधिकार रखता है । अत: उन्होंने निवेदन किया कि इस न्यायालय के विधिशास्त्र में विवादित संपत्ति को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का विधिक आधार है । इस दलील का विश्लेषण किए जाने के प्रयोजनार्थ यह आवश्यक है कि मामले पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाए ।

151. लोगों ने **शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी** (उपरोक्त) वाले मामले में 1925 के सिख गुरुद्वारा अधिनियम की धारा 7(1) के अधीन

---

[1] (2000) 4 एस. सी. सी. 146.

एक याचिका इस घोषणा के बाबत फाइल की कि कतिपय विवादित संपत्ति एक सिख गुरुद्वारा था । इस बाबत अधिसूचना जारी किए जाने पर यह आक्षेप फाइल किए गए कि विवादित संपत्ति धर्मशाला और डेरा थी । अधिकरण ने अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत एतराज इस आधार पर खारिज कर दिए कि इस मामले के याचियों को अधिकरण के समक्ष याचिका फाइल करने की अधिकारिता प्राप्त नहीं थी । इसी दौरान शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ने दावा किया कि विवादित संपत्ति सिख गुरुद्वारा था और 'इस गुरुद्वारे में गुरु ग्रंथ साहिब उपासना की एक मात्र वस्तु थे और वही गुरुद्वारा के संपत्ति के एक मात्र स्वामी थे ।'

152. राजस्व अधिकारी ने वर्ष 1921 में जारी किए गए फरमान-ए-शाही के आधार पर 'गुरु ग्रंथ साहिब विराजमान धर्मशाला देह' के नाम में नामांतरण का आदेश पारित किया था । अत:, भूमि के स्वामित्व के कॉलम में यही नाम दर्शित होता रहा जब तक कि भूमि को सिख गुरुद्वारा के रूप में घोषित किए जाने के विरुद्ध आक्षेप नहीं फाइल कर दिए गए । अधिकरण द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की गई अपीलों में यह दलील दी गई कि गुरु ग्रंथ साहिब के नाम में उपलब्ध राजस्व अभिलेखों में प्रविष्टि व्यर्थ है और वे विधिक व्यक्ति नहीं हैं । उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि गुरु ग्रंथ साहिब विधिक व्यक्ति नहीं हैं और परिणामस्वरूप उनके नाम में किया गया नामांत्रण अपास्त किए जाने योग्य है । इस संदर्भ में इस न्यायालय से अपेक्षा की गई है कि इस बिंदु का न्यायनिर्णयन किया जाए कि क्या गुरु ग्रंथ साहिब विधिक व्यक्ति हैं और अपने नाम में विवादित संपत्ति धारण करने के समर्थ हैं ।

153. न्यायमूर्ति ए. पी. मिश्रा ने विधिक व्यक्ति की संकल्पना के क्रमविकास की खोज करते हुए उल्लेख किया कि विधिक व्यक्ति को विधि में मान्यता विधि और समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रदान की गई है । न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :–

> "19. ... जब कोई दानकर्ता किसी प्रतिमा को या किसी मस्जिद या किसी संस्था के वास्ते कुछ प्रदान करता है, तो इससे विधिक व्यक्ति का सृजन आवश्यक हो जाता है ।

21. किसी पवित्र या धार्मिक प्रयोजन के लिए विन्यास की जा सकती है । यह विन्यास किसी प्रतिमा, मस्जिद, चर्च इत्यादि के लिए की जा सकती है । विन्यास के परिणामस्वरूप प्रदान की गई संपत्ति का प्रयोग इन प्रयोजनों के लिए किया जाना चाहिए । किसी हिंदू द्वारा किसी प्रतिमा या किसी छवि को ईश्वर का स्थान प्रदान करते हुए उसको स्थापित किया जाना और उसकी उपासना किया जाना मात्र एक माध्यम है जिसके द्वारा उसकी आस्था और विश्वास को संतुष्टि प्राप्त होती है । किसी कारणवश प्रतिमा को विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान किए जाने की आवश्यकता उत्पन्न हुई ।

27. पूर्वोक्त दृष्टिकोण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि 'विधिक व्यक्तियों' को किस प्रकार से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सृजित किया गया है । ... विश्व के विभिन्न धर्मों की विभिन्न आस्थाएं और विश्वास होते हैं और उनकी उपासना के लिए अनेक संकल्पनात्मक आस्थाओं और विश्वास के साथ विभिन्न संस्थाएं स्थापित की जाती हैं किंतु सभी का उद्देश्य एक ही होता है ।

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

29. ... 'गुरु ग्रंथ साहिब' के प्रयोजनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि उनको उसी प्रकार से विधिक व्यक्ति घोषित किया जाए, जिससे कि उनकी तुलना किसी प्रतिमा के साथ की जा सके । जब दो विभिन्न धर्मों की आस्था और विश्वास भिन्न-भिन्न होते हैं, तो दोनों की एक-दूसरे के साथ तुलना किए जाने का प्रश्न नहीं उठता । यदि 'गुरु ग्रंथ साहिब' द्वारा स्वयमेव यह घोषणा किया जाना संभव होता कि वे विधिक व्यक्ति हैं, तो उनको विधिक व्यक्ति घोषित किया जा सकता है ।

31. अब हम इस प्रश्न पर पुन: विचार करते हैं कि क्या गुरु ग्रंथ साहिब 'विधिक व्यक्ति' हो सकते हैं या नहीं या क्या उनको विधिक व्यक्ति के समान प्रतीत किया जा सकता है, इस उद्देश्य के लिए हमको पहले सिख धर्म का अवलोकन करना होगा ... सिख धर्म में गुरु को सर्वोच्च श्रद्धेय व्यक्ति माना गया है ...

33. अंतिम गुरु अर्थात् गुरु गोविन्द सिंह ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मेरे पश्चात् किसी जीवित व्यक्ति को गुरु नहीं माना जाएगा । गुरु ग्रंथ साहिब ही जीवंत गुरु होंगे । उन्होंने घोषणा की थी कि 'मेरे पश्चात् गुरु ग्रंथ साहिब ही आपके गुरु होंगे और आप लोग गुरु ग्रंथ साहिब से ही संपूर्ण मार्गदर्शन और अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करें' । इसी आस्था के साथ सिख धर्म के लोग गुरु ग्रंथ साहिब की उपासना जीवित गुरु के समान करते हैं । जब गुरु ग्रंथ साहिब को इसी आस्था और दृढविश्वास के साथ किसी गुरुद्वारे में स्थापित किया जाता है, तो वह गुरुद्वारा उपासना का पवित्र स्थान बन जाता है । गुरु ग्रंथ साहिब की स्थापना के कारण ही गुरुद्वारे की पवित्रता होती है । गुरु ग्रंथ साहिब की इसी श्रद्धामय मान्यता उनके श्रद्धालुओं को उनके ऊपर धन और दौलत अर्पित करने के लिए प्रेरित करती है । ऐसा नहीं है कि यह किया जाना आवश्यक है किंतु जब गुरु ग्रंथ साहिब को स्थापित कर दिया जाता है, तो वे अपने श्रद्धालुओं की श्रद्धा के केंद्र बन जाते हैं, जो उनके प्रति अपने सम्मान के कारण स्वयमेव को पाप से मुक्त पाते हैं और लंगर का आयोजन भी करते हैं, जो गुरुद्वारे के क्रियाकलाप का अंतर्निहित भाग होता है ।

34. ... उनकी समानता किसी 'प्रतिमा' के साथ नहीं की जा सकती चूंकि प्रतिमा की उपासना सिख पंथ की मान्यताओं की विपरीत है । संकल्पना या श्रद्धा की दृष्टि से दोनों धर्म भिन्न हैं । हां, जहां तक विधिक व्यक्ति के रूप में विधिक रूप से मान्यता का संबंध है, दोनों ही धर्मों के अनुयायी एक दूसरे को समान रूप से श्रद्धामय हैसियत प्रदान करते हैं ।

42. ... हम पूर्वोक्त कारणोंवश उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित इस विचार में कोई बल नहीं पाते कि 'गुरु ग्रंथ साहिब' 'विधिक व्यक्ति' नहीं है । उक्त निष्कर्ष तथ्य और विधि दोनों की दृष्टि में मान्य ठहराए जाने योग्य नहीं है ।"

विद्वान् न्यायाधीश द्वारा व्यक्त किया गया विचार यह था कि

किसी विधिक व्यक्ति के सृजन का उद्देश्य धार्मिक आस्था और विश्वास को विधिक संरक्षण सुनिश्चित करना था :–

> "28. आस्था और विश्वास का निर्णय न्यायिक संवीक्षा द्‌वारा नहीं किया जा सकता । यह ऐसा तथ्य है जिसको उस आस्था और विश्वास के अनुयायियों द्‌वारा सिद्ध और स्वीकार किया जाता है । <u>आस्था एक ऐसी इकाई के सृजन की आवश्यकता सृजित करती है जिसको 'विधिक व्यक्ति' के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है</u> । इन सभी बातों से यह दर्शित होता है कि 'विधिक व्यक्ति' को किसी परिभाषित क्षेत्र में सृजित नहीं किया जाता है । परिवर्तनशील विचारों और समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के साथ-साथ <u>नए</u> <u>विधिक व्यक्ति</u> को समय-समय पर सृजित किए जाते रहे हैं ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

154. मामले का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किए जाने से जो बातें प्रकट होती हैं वे यह हैं – प्रथमत: मामला अचल संपत्ति को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने से संबंधित नहीं हैं । इस तथ्य की सुसंगतता पर इस निर्णय के अनुक्रम में विचार किया जाएगा; द्‌वितीयत:, जहां तक धर्म का मामला है, सिख धर्म की मान्यताएं प्रतिमा की उपासना के विपरीत हैं । हिंदू विधि के अनुसार जिन मामलों में प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया, उन मामलों में विधिक संबंधों के भौतिक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए सिख धर्म में भौतिक शरीर विद्‌यमान नहीं था । अत: इस न्यायालय से यह अपेक्षा की गई कि ऐसे किसी शरीर को स्थापित किया जाए, जिसको विधिक व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्रदान की जा सके, चूंकि यह तथ्य केवल इस विनिर्धारण के परिणामस्वरूप था कि न्यायालय इस बात का निर्णय कर सकती थी कि क्या विवादित संपत्ति विधिक व्यक्ति के रूप में गुरु ग्रंथ साहिब में निहित थी । जैसाकि ऊपर अभिकथित किया गया है आवश्यकता बहुधा विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का आधार होती है । इस मामले में जैसाकि हिंदू विधि में प्रतिमा के मामले में होता है, विधिक दृष्टि से यह समीचीन था कि गुरु ग्रंथ साहिब के विधिक व्यक्तित्व को भौतिक शरीर

के रूप में मान्यता प्रदान की जाए, जिसको इस बात के विनिर्धारण के प्रयोजनार्थ कि क्या संपत्ति गुरु ग्रंथ साहिब में निहित हो सकती थी, विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाएगा ।

155. **शिरोमणि गुरुद्वारा** (उपरोक्त) वाले मामले में दिए गए निर्णय में इस बात की पुष्टि होती है कि वस्तुओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के केंद्र में अधोरेखांकित उद्देश्य स्थित होता है । विभिन्न धर्मों का निर्धारण उनकी अपनी आस्था और विश्वास के अनुसार किया जाता है । सिख धर्म में प्रतिमा की उपासना की अनुपस्थिति के कारण गुरु ग्रंथ साहिब को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की आवश्यकता उत्पन्न हुई जो सिख धर्म की मान्यताओं के अनुसार स्वयं गुरु है । तद्नुसार, यह विनिर्धारित किया गया कि विवादित संपत्ति गुरु ग्रंथ साहिब में निहित होती है ।

थायारम्माल वाला मामला :

156. अंततः **थायारम्माल** बनाम **कनकम्मल**[1] वाले मामले में वादग्रस्त संपत्ति को एक शिलालेख पर उत्कीर्ण लिखावट के द्वारा धर्मचतरम (धर्मशाला), जहां यात्री और तीर्थयात्री शरण ले सकें और उनको जलपान आदि उपलब्ध कराया जा सके, के रूप में जनसामान्य के उपयोग के प्रयोजनार्थ समर्पित किया गया था । यह संपत्ति 'जनसामान्य को विश्राम के स्थान के रूप में समर्पित' की गई थी । इस स्थान के प्रबंधन हेतु किसी न्यासी का उल्लेख नहीं किया गया था और इस समर्पण के साक्षी स्वयं भगवान थ्यागराज थे । वादी ने इस समर्पित संपत्ति (अनुसूची-क) के एक भाग के अधिभोग में होने का दावा किया और अभिकथित किया कि प्रतिवादी द्वारा अनुसूची-ख में उल्लिखित संपत्ति के एक भाग पर अतिक्रमण कर लिया गया है । प्रतिवादियों ने वाद का प्रतिवाद इस आधार पर किया कि उन्होंने संपत्ति के एक भाग का स्वत्व न्यायालय द्वारा एक समझौता डिक्री के निष्पाद के अनुक्रम में संचालित विक्रय में संपत्ति क्रय किए जाने के द्वारा अर्जित कर

---

[1] (2005) 1 एस. सी. सी. 457.

लिया था । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि समझौता डिक्री दुरभि संधि के परिणामस्वरूप पारित की गई थी और वादी को इस संपत्ति के बाबत न्यासी के रूप में कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे । तद्नुसार महा-प्रशासक को 1913 के शासकीय न्यासी अधिनियम के अंतर्गत न्यास का प्रबंधन अपने हाथों में लेने के लिए निर्देशित किया गया । इस न्यायालय के समक्ष जो मुख्य प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुआ कि वह यह था कि क्या कोई न्यास या धर्मार्थ विन्यास सृजित किया गया था ।

157. न्यायालय ने शिलालेख का विश्लेषण किया और अभिनिर्धारित किया कि वादग्रस्त संपत्ति को धर्मार्थ प्रयोजनों के लिए समर्पित किया गया था और वादी द्वारा न्यासी के रूप में या प्रतिवादी द्वारा स्वामी के रूप में इस संपत्ति के बाबत दावा नहीं किया जा सकता । तथापि, न्यायमूर्ति डी. एम. धर्माधिकारी ने निर्णय पारित करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

> "16. किसी धार्मिक विन्यास द्वारा किसी के पक्ष में समर्पित संपत्ति के बाबत स्वत्व सृजित नहीं किया जा सकता । धार्मिक या धर्मार्थ प्रयोजन के लिए समर्पित संपत्ति, जिसके बाबत संपत्ति के स्वामी या दानदाता ने किसी प्रशासक या प्रबंधक की नियुक्ति नहीं की है, 'स्वामित्वहीन (Res Nellius)' संपत्ति हो जाती है जिसको विद्वान् लेखक ने अपनी पुस्तक (उपरोक्त) में स्वामित्वहीन संपत्ति के रूप में वर्णित किया है । जनसामान्य के प्रयोग के लिए समर्पित ऐसी संपत्ति को विधिक व्यक्ति की कोटि के अंतर्गत रखा जाता है । विद्वान् लेखक ने अपने व्याख्यात्मक निबंध के पृष्ठ 35 पर स्पष्ट किया है कि किसी व्यक्ति में विधिक व्यक्ति के रूप में कितनी संपत्ति निहित होती है ... इसके पीछे एक ही विचार है अर्थात् जब संपत्ति, जिसके बाबत प्रयोजन विनिर्दिष्ट कर दिया गया है, किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए समर्पित की जाती है, तो वह संपत्ति विधिक व्यक्ति की कोटि की संपत्ति हो जाती है ताकि वह संपत्ति उस व्यक्ति में निहित हो जाए जिसे सृजित किया गया है ।"

निर्णय का गंभीरतापूर्वक परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस मामले में मुख्य रूप से जो दलील दी गई थी, वह यह थी कि धर्माचतरम के रूप में वर्णित संपत्ति 1959 के तमिलनाडु हिंदू धार्मिक और धर्मार्थ विन्यास अधिनियम की धारा 6(5) के अधीन 'धर्मार्थ विन्यास' के रूप में आच्छादित संपत्ति है । इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि धर्माचतरम के लिए संपत्ति का समर्पण विशुद्ध विधिक भाव में न तो उपहार है और न ही न्यास । इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वह संपत्ति जिसको किसी धर्मार्थ प्रयोजन के लिए समर्पित किया गया, पर वादी द्वारा न्यासी के रूप में या प्रतिवादी द्वारा स्वामी के रूप में दावा नहीं किया जा सकता । न्यायालय का यह निष्कर्ष निकालते हुए यह दृष्टिकोण था कि यह मामला 1959 के तमिलनाडु हिंदू और धर्मार्थ विन्यास अधिनियम द्वारा शासित है और तद्नुसार वादग्रस्त संपत्ति को प्रशासन, प्रबंधन और देखभाल के लिए राज्य सरकार और आयुक्त द्वारा 1959 के अधिनियम के अंतर्गत अपने नियंत्रण में ले लिया जाएगा ।

158. इस न्यायालय ने किसी धार्मिक विन्यास संस्था की स्थिति का निर्धारण किए जाने के प्रयोजनार्थ पैरा 16 में कतिपय मताभिव्यक्तियां की जिनका अवलंब लिया गया है । न्यायालय द्वारा यह मताभिव्यक्तियां इस आधार पर की गईं कि वादग्रस्त संपत्ति को एक विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए समर्पित किया गया था और प्रतिवादी इसका स्वामी नहीं हो सकता था । ऐसा उस प्रयोजन को संरक्षण सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ किया गया था जिसके लिए वादग्रस्त संपत्ति का समर्पण किया गया था । महत्वपूर्ण रूप से समर्पण विलेख में विन्यास की गई संपत्ति के लिए किसी प्रबंधक का उल्लेख नहीं किया गया और न्यायालय ने विन्यास के आशय को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के द्वारा संपत्ति को संरक्षण प्रदान किए जाने की ईप्सा की थी । यद्यपि न्यायालय ने सैद्धांतिक रूपरेखा के आधार पर विधि की स्थिति का निर्धारण किया, जिसका विश्लेषण ऊपर किया गया है । किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर उद्धृत मताभिव्यक्तियों के आधार पर यह

निष्कर्ष निकलता है कि स्वयमेव संपत्ति को ही विधिक व्यक्ति का दर्जा प्रदान कर दिया गया था । मामले का अध्ययन संपूर्णता में किए जाने पर और साथ ही सैद्धांतिक रूप से उसकी व्याख्या किए जाने पर, जिसका उल्लेख किया गया है, इन मताभिव्यक्तियों को विन्यास के आशय को संरक्षण प्रदान किए जाने की दृष्टि से पढ़ा जाना चाहिए और न कि इस बाबत पढ़ा जाना चाहिए कि स्वयमेव संपत्ति को विधिक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया था ।

संपत्तियों का समर्पण

159. श्री सी. एस. वैद्यनाथन द्वारा निर्दिष्ट मामले इस न्यायालय द्वारा विवादित भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के परिणामों से संबंधित है । ऊपर उल्लिखित मामले वाद संख्या 5 में वादी की तरफ से दी गई दलील कि द्वितीय वादी विधिक व्यक्ति है, का समर्थन करने के बजाय इस बात की पुष्टि करते हैं कि हिंदू प्रतिमाओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की प्रथा को न्यायालयों द्वारा ही इस बात को सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ विकसित किया गया था कि विधि पर्याप्त रूप से धार्मिक प्रयोजनों के लिए विन्यासित संपत्तियों को संरक्षण प्रदान करती है । चूंकि विनिर्दिष्ट प्रतिमाओं के पक्ष में बड़ी संख्या में विन्यास किए गए थे, इसलिए न्यायालयों ने प्रतिमाओं को एक केंद्र बिंदु के रूप में मान्यता प्रदान की जिसमें विन्यास के समस्त अधिकार, शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां निहित होंगी । विधिक व्यक्तित्व विन्यासित संपत्तियों को संरक्षण प्रदान किए जाने के आत्यंतिक विनिर्दिष्ट लोकहित को पूर्ण किए जाने और विधिक संबंधों का केंद्र सृजित किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रदान की गई थी । आवश्यकता ने विधि की दृष्टि में अस्तित्व के सृजन और उसको मान्यता की आज्ञा प्रदान की । जिसके द्वारा न्यायालयों को नैसर्गिक व्यक्तियों और प्रतिमा के मध्य विधिक संबंधों को विनियमित किए जाने की अनुज्ञा प्रदान की गई और इसके परिणामस्वरूप संपत्तियां प्रतिमाओं में निहित हो गई । इन मामलों का उल्लेख तब किया जाएगा जब न्यायालय यह विनिर्धारित करेगी कि द्वितीय वादी विधिक व्यक्ति है ।

आस्था और विश्वास

160. विनिश्चयों और उनमें की गई मताभिव्यक्तियां, जिनका उल्लेख किया गया है, समर्पण या दान के निश्चायक कार्य की विद्यमान्यता पर आधारित हैं । यहां पर इस बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने का वादियों का दावा किसी अभिव्यक्त समर्पण पर आधारित नहीं है । उन्होंने दलील दी कि केंद्रीय गुंबद के नीचे स्थित स्थल, जहां प्रतिमाओं को स्थापित किया गया था, भगवान राम का जन्मस्थान है । श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास का सर्वोच्च महत्व होता है । हिंदू विवादित स्थल के चारों तरफ इस आस्था और विश्वास के साथ परिक्रमा करते हैं कि यह स्थान भगवान राम का जन्मस्थान है । अत: यह दलील दी गई कि 'स्थान श्रीराम जन्मभूमि' को श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास को दृष्टि में रखते हुए धार्मिक उपासना के स्थान के रूप में विधिक व्यक्ति की हैसियत प्रदान की जानी चाहिए । यह दलील दी गई कि हिंदुओं के लिए प्रतिमा की उपस्थिति अपरिहार्य होती है, इस दलील के आधार पर ऐसी स्थिति अनुध्यात होती है जैसीकि हमारे समक्ष उपस्थित मामले में है, जिसमें स्वयमेव भूमि का पूजन देवता के रूप में किया जाता है । श्रद्धालु भगवान राम के जन्मस्थान के रूप में भूमि का पूजन करते हैं और इसके परिणामस्वरूप यह दलील दी गई कि द्वितीय वादी को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना चाहिए ।

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

161. वाद संख्या 5 में वादी की तरफ से जो दलील दी गई, वह तात्विक रूप से किसी हिंदू विन्यास को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के मामले से तात्विक रूप से भिन्न है । न्यायालयों ने विन्यास के मामले में संस्था को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के आधार पर धर्मार्थ या धार्मिक प्रयोजन को मान्यता प्रदान की है । न्यायालय ने ऐसा करते हुए संस्थापक या वसीयतकर्ता द्वारा इस प्रकार से विन्यासित संपत्तियों को संरक्षण प्रदान करने के पवित्र प्रयोजन को मान्यता प्रदान की है । तथापि, वाद संख्या 5 में वादियों का यह पक्षकथन नहीं है कि

द्‌वितीय वादी के नाम वाली संपत्ति कोई नवोदित संपत्ति है । तथापि, वादियों ने 'विधिक व्यक्ति' वाली दलील का अवलंब लेते हुए इस न्यायालय से विधिक व्यक्तित्व-श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास प्रदान किए जाने के लिए अतिरिक्त आधार सृजित किए जाने का निवेदन किया । इस न्यायालय के समक्ष दी गई दलीलों के मध्य यह अभिवचन विधिक दावा वर्तमान विवाद का केंद्र बिंदु है ।

162. प्रथम कठिनाई, जो वाद संख्या 5 में वादियों द्‌वारा दी गई दलीलों को स्वीकार किए जाने में उद्भूत होती है, इस आत्यंतिक व्यावहारिक प्रश्न से उत्पन्न होती है कि ऐसी अचल संपत्तियों को किस प्रकार से वर्णित किया जाए । जैसाकि विन्यासित संपत्तियों के मामले में होता है, जिनको स्वयमेव विन्यास की लिखत या प्रलेख में वर्णित किया जाता है, और जिनके संबंध में श्रद्धालुओं के आस्था और विश्वास के आधार पर विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने की ईप्सा की जाती है, यह संभव है कि श्रद्धालु इस संपत्ति के वास्तविक स्वरूप पर सहमत न हो । संपत्तियों के वर्णन का प्रश्न न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल के मस्तिष्क में था, जिन्होंने यह अभिकथित किया :–

> "1887. 'स्थान' शब्द का क्या अर्थ होगा और उसकी सीमा क्या होनी चाहिए ? क्या यह कोई लघु स्थान होगा जो सामान्यत: किसी मनुष्य के जन्म के लिए अपेक्षित होता है या क्या इस स्थान के अंतर्गत किसी संपूर्ण कक्ष, गृह, क्षेत्र या नगर का स्थान आच्छादित होगा या कभी-कभी कोई यह भी कह सकता है कि उससे ज्यादा स्थान आच्छादित होगा । हम जानते हैं कि हिंदू नदियों और झीलों, जैसेकि गंगा, यमुना, नर्मदा, मानसरोवर इत्यादि की भी उपासना करते हैं । ये नदियां और झीलें अत्यधिक पवित्र हैं । अनेक स्थानों पर इन नदियों के किनारों पर या उनके निकट बडी संख्या में मंदिरों का निर्माण किया गया है । हिंदुओं के लिए ऐसी पवित्र नदियों का उद्‌गम स्थल भी उपासना का स्थान है जैसेकि गंगोत्री, यमुनोत्री (उत्तरांचल राज्य) और अमरकंटक (नर्मदा नदी का उद्‌गम स्थल) । क्या यह कहा जा सकता है कि इन

नदियों की संपूर्ण लंबाई 'विधिक व्यक्तित्व' को गठित करते हैं और उसकी अपेक्षा की पूर्ति करते हैं । यहां पर यह कहना व्यर्थ नहीं होगा कि अनेक स्थानों पर गंगा, नर्मदा, यमुना इत्यादि नदियों के मंदिर भी निर्मित किए गए हैं और उन मंदिरों के धार्मिक विन्यासों के रूप में अपने अधिकार हैं और वे उन समस्त विधिक अधिकारों का उपभोग करते हैं और बाध्यताओं का निर्वहन करते हैं, जो उन विन्यासों को उपलब्ध हैं । इसी प्रकार से कतिपय पहाड़ियां या पर्वत शिखर या पहाड़ी क्षेत्र को भी उपासना स्थल माना जाता है, जैसेकि कैलाश, गोवर्धन, कामथगिरी इत्यादि ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है।)

परिक्रमा

163. विद्वान् न्यायाधीश ने इन कठिनाइयों के बावजूद यह निष्कर्ष निकाला कि 'स्थान श्रीराम जन्मभूमि' विधिक व्यक्ति है । हमारे समक्ष यह दलील दी गई कि संपूर्ण अयोध्या को विधिक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता बल्कि केवल विवादित स्थल को विधिक व्यक्ति कहा जा सकता है । जब न्यायपीठ द्वारा अभिकथित विधिक व्यक्ति की भौतिक चौहद्दी के बाबत प्रश्न उठाया गया तो यह दलील दी गई कि विवादित संपत्ति, जिसकी जन्मस्थान के रूप में उपासना की जाती है, के चारों तरफ परिक्रमा के द्वारा संपत्ति का सीमांकन हो जाता है और यही वह संपत्ति है, जो दिव्य भूमि है और जिसको विधिक व्यक्ति का दर्जा प्रदान किया जाना चाहिए । इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए परिक्रमा ने विधिक व्यक्ति की चौहद्दी का सीमांकन कर दिया है । इसके विपरीत डा. धवन ने दलील दी कि परिक्रमा मात्र एक प्रकार की उपासना है और न कि संपत्ति की चौहद्दी की सीमांकन का तरीका ।

164. परिक्रमा किसी लघु प्रतिमा, देवस्थान, मंदिर या भूमि, जिस पर मंदिर स्थित है, के चारों तरफ की जाती हैं । तथापि, परिक्रमा का प्रमुख उद्देश्य दिव्य शक्ति की उपासना करना होता है और यह उपासना इस विश्वास के साथ की जाती है कि इसके परिणामस्वरूप परिक्रमा

करने वाले को आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होगा । परिक्रमा उस संपत्ति, जिसे विधिक व्यक्ति का स्वरूप प्रदान किया गया है, की सही-सही चौहद्दी का सीमांकन किए जाने के प्रयोजनार्थ नहीं की जाती । परिक्रमा, जो एक प्रकार की उपासना है और जिसको आस्था और विश्वास के फलस्वरूप किया जाता है, के बाबत यह दावा नहीं किया जा सकता कि वह किसी संपत्ति पर स्वामित्व के दावे के प्रयोजनार्थ विधि की दृष्टि में किसी को हकदार बनाने का आधार सृजित करती है ।

राम जानकी की प्रतिमाएं

165. वाद संख्या 5 में वादियों के काउंसेल ने इस न्यायालय द्वारा **राम जानकीजी डीटीज़ (देवतागण)** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों का अवलंब यह दलील दिए जाने के प्रयोजनार्थ किया कि किसी देवता को प्रतिष्ठित किए जाने का तरीका चेतना से संबंधित तरीका होता है और यह तरीका देवताओं के विनिर्धारण पर आधारित होता है । उन्होंने निवेदन किया कि श्रद्धालुओं द्वारा प्रतिष्ठित किए जाने के लिए चुना गया कोई तरीका देवता को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ पर्याप्त होता है । उस मामले में संबद्ध न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न विनिर्धारण के लिए उद्भूत हुआ था कि क्या समुचित अनुष्ठानों का निर्वहन करते हुए दृश्यमान रूप में देवता को प्रतिष्ठित किए जाने के परिणामस्वरूप विधिमान्य देवता की स्थापना होगी, जिनको '1961 के बिहार भूमि सुधार (अधिकतम सीमा का निर्धारण और अधिशेष भूमि का अधिग्रहण) अधिनियम के प्रयोजनार्थ' न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किया जा सकता है । समर्पण के दो विलेख निष्पादित किए गए थे – एक देवता राम जानकी और देवता ठाकुर राजा के पक्ष में । दोनों देवताओं को भिन्न-भिन्न अस्तित्वों के रूप में मान्यता प्रदान की गई और दोनों को पृथक्-पृथक् संपत्तियां प्रदान की गईं और दोनों ही देवताओं को शिबायतों के माध्यम से संपत्तियों के कब्जे प्रदान किए गए । दोनों ही देवता समर्पित संपत्ति के भीतर पृथक्-पृथक् मंदिरों में स्थित थे ।

---

[1] (1999) 5 एस. सी. सी. 50.

166. उप-कलक्टर ने अधिकतम क्षेत्र के निर्धारण के प्रयोजनार्थ दोनों देवताओं को भूमि की दो इकाइयां प्रदान किए जाने की मंजूरी इस आधार पर दी कि दोनों ही पृथक् देवता हैं जिनको भूमि उपहार स्वरूप प्रदान की गई है । कलक्टर ने असहमति व्यक्त की और इस आधार पर भूमि की एकल इकाई प्रदान किए जाने की मंजूरी दी कि दोनों देवताओं द्वारा धारित संपूर्ण संपत्ति का प्रबंधन धार्मिक न्यास बोर्ड के अंतर्गत सृजित एक समिति द्वारा किया जाना था और इस बाबत कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं था कि देवताओं को दान स्वरूप प्रदान की जा रही संपत्ति के बाबत अलग व्यवहार किया जा रहा है । इस न्यायालय ने इस प्रश्न की उत्तर की ईप्सा की कि क्या दोनों देवता भिन्न हैं और दोनों के भिन्न विधिक अस्तित्व हैं । इस बात का उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण होगा कि उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि ठाकुर राजा (या राजा-रानी) के नाम से देवता हिंदू शास्त्रों में अज्ञात हैं, इसलिए ऐसा कोई द्वितीय देवता प्रतिष्ठित नहीं है जिसको भूमि का पृथक् रूप से समर्पण किया जा सके । इस संदर्भ में इस न्यायालय के न्यायमूर्ति उमेश बनर्जी ने यह मताभिव्यक्ति की कि :–

> "हिंदू शास्त्रों के अनुसार प्रतिमाएं दो प्रकार की होती हैं : प्रथम वे प्रतिमाएं जिनको स्वयं-भू या स्वयं विद्यमान या स्वयं प्रकट कहा जाता है, जबकि द्वितीय वे प्रतिमाएं होती हैं, जो प्रतिष्ठित या स्थापित की जाती है । पद्मपुराण में कहा गया है कि : 'पत्थर, मिट्टी लकड़ी, धातु या किसी अन्य प्रकार से तैयार और वेदों, स्मृतियों और तंत्रों में अधिकथित रीतियों के अनुसार स्थापित की गई हरि (ईश्वर) की प्रतिमा को स्थापित प्रतिमा कहा जाता है... जहां शांतचित्त विष्णु ने स्वयं को मनुष्य के कल्याण के लिए पृथ्वी पर पत्थर या लकड़ी में स्थान प्रदान किया है, वहां पर उसको स्वघोषित या स्वयं-भू कहा जाता है (बी. के. मुखर्जी – हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चैरिटेबल ट्रस्ट, पांचवा संस्करण) ।' स्वयं-भू या स्वघोषित प्रतिमा प्राकृतिक प्रतिमा होती है और वह अनादि काल से उपस्थित होती है अर्थात् उस काल से जिसका न तो कभी

> आरंभ होता है और न ही अंत और श्रद्धालु ही उसकी खोज करते हैं और ऐसी प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया जाना अपेक्षित नहीं होता किंतु मनुष्य द्वारा निर्मित प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया जाना अपेक्षित होता है । मनुष्य द्वारा निर्मित प्रतिमा की दीवार या मोटे कपड़े (Canvas) पर चित्रकारी भी होती है । शालिग्राम शिला नारायण को ईश्वरों के ईश्वर के रूप में चित्रित करती है और यह शिला भगवान विष्णु का प्रतिनिधित्व करती है । यह एक शिला होती है – शालिग्राम ईश्वरों के ईश्वर, नारायण और विष्णु के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है ।"

तत्पश्चात् न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किए जाने के प्रयोजनार्थ एक निर्णयज विधि का उल्लेख करते हुए कहा कि यद्यपि प्रतिमा को मंदिर में प्रतिष्ठित किया जाता है किंतु हमको ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह कोई आवश्यक शर्त है । न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि :–

> "... जनता मंदिरों की धार्मिक प्रभाव में विश्वास करती है और किसी अन्य क्षेत्र के संबंध में कोई अन्य अपेक्षा विद्यमान नहीं होती और ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान् न्यायाधीश ने हिंदू शास्त्रों के इस पहलू का पूर्णतया अनदेखा किया है – किसी भी दृष्टि से हिंदू शास्त्रों में 'अग्नि देवता और वायु देवता' का उल्लेख है – ये देवता आकारहीन और स्वरूपहीन होते हैं किंतु हिंदुओं के प्रत्येक रीति-रिवाजों में इन देवताओं को आहुतियां दी जाती हैं । इन देवताओं को आहुति अनिवार्य होती है - तथापि, विद्वान् न्यायाधीश ने इन बातों का अवलंब नहीं लिया । ऐसा नहीं है कि किसी विशिष्ट आकृति को ही विधिक व्यक्ति माना जा सकता है बल्कि विधिक व्यक्ति मस्तिष्क में स्थित किसी विशिष्ट आकृति, जो प्रतिमा का स्वरूप ले लेती है, को भी माना जा सकता है ।"

167. वे सभी मामले जिनका अवलंब न्यायालय द्वारा लिया गया, विभिन्न कानूनों के अंतर्गत मंदिर की अपेक्षाओं से संबंधित हैं या इस प्रश्न से संबंधित हैं कि कौन सा स्थान धार्मिक उपासना का स्थान गठित करता है । न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियां उपासना के

केंद्र को स्थापित किए जाने का आधार सृजित करती हैं, जिनके अनुसार देवता का कोई निर्धारित स्वरूप होने की आवश्यकता नहीं होती और वह श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास पर आधारित होती है । न्यायालय द्वारा यह मताभिव्यक्तियां अभिनिर्धारित किए जाने के संदर्भ में की गईं थीं कि क्या कोई विधिमान्य देवता विद्यमान हैं जिनको कोई समर्पण किया जा सकता है । यह प्रश्न कि क्या द्वितीय देवता भिन्न विधिक व्यक्ति हैं, द्वितीय देवता, जो 1961 के बिहार भूमि सुधार (अधिकतम क्षेत्र का विनिर्धारण और अधिशेष भूमि का अधिग्रहण) के प्रयोजनार्थ द्वितीय इकाई गठित करते हैं, के पक्ष में समर्पण विलेख की विधिमान्यता के विनिर्धारण की आवश्यकता के कारण उद्भूत हुआ । यह केवल विधिमान्य देवता की स्थापना के परिणामस्वरूप संभव है कि समर्पित संपत्ति आदर्श भाव में स्थापित देवता में निहित होगी ।

168. ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विधिमान्य देवता को प्रतिष्ठित या स्थापित किए जाने के संबंध में न्यायालय की मताभिव्यक्तियां श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास के आधार पर संपत्ति को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के प्रयोजनार्थ समान बल के साथ लागू होती हैं । इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए अधोरेखांकित दृष्टिकोण के तर्काधार को निम्नलिखित मताभिव्यक्ति में स्पष्ट किया :–

> "**17. मूर्ति पूजा को अधोरेखांकित करने वाले मुख्य सिद्धांत को ध्यान में रखा जाना चाहिए** : यह कि श्रद्धालु जिस किसी भी देवता को उपासना के प्रयोजनार्थ चुनते हैं और उनको उस उद्देश्य के लिए जिस किसी भी स्वरूप में स्थापित और प्रतिष्ठापित किया जाता है, वह स्वरूप सर्वोच्च ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है और किसी अन्य का नहीं । विभिन्न ईश्वरों के मध्य कोई श्रेष्ठा या न्यूनता नहीं होती । शिव, विष्णु, गणपति या सूर्य की प्रशंसा की जाती है, प्रत्येक की उपासना किए जाते समय उसको सृजनकर्ता, पालनकर्ता और ब्रह्मांड का सर्वोच्च ईश्वर बताया जाता है । उनका स्वरूप स्वरूपहीन ईश्वर को नाम और स्वरूप प्रदान करता है और रूढिवादी हिंदुओं का विचार यह है कि स्वरूप की संकल्पना केवल

> उपासनाकर्ता के लाभ के लिए होती है और किसी अन्य कार्य के लिए नहीं ।" (बी. के. मुखर्जी – हिंदू ला आफ रिलीजियस एंड चेरिटेबल ट्रस्ट, पांचवा संस्करण)

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

राम जानकीजी डीटीज़ देवतागणों (उपरोक्त) वाले मामले में की गई मताभिव्यक्ति श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास के आधार पर एक प्रतिमा, जिसको विधिमान्य रूप से संपत्तियां समर्पित की गई थीं, को प्रतिष्ठित किए जाने के विनिर्दिष्ट संदर्भ में की गई थी । इस मामले में की गई मताभिव्यक्ति से यह बात साबित होती है कि किसी विधिमान्य देवता की विद्‌यमानता का परीक्षण हिंदू शास्त्रों के आधार पर नहीं किया जा सकता बल्कि ऐसा श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास के आधार पर किया जा सकता है । यदि एक बार श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास साबित हो जाती है, तो इस आधार पर एक अभिव्यक्त समर्पण विलेख निष्पादित किया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिमा को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया । इस मामले में की गई मताभिव्यक्ति की समानता स्वयमेव संपत्ति के उत्थान के प्रयोजनार्थ विधिक व्यक्ति के रूप में नहीं की जा सकती ।

169. उस मामले में सर्वोच्च न्यायालय इस बात से संबद्ध था कि क्या किसी देवता की विनिर्दिष्ट प्रतिमा का परीक्षण हिंदू शास्त्रों के विरुद्ध किया जा सकता है और इसी संदर्भ में न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि देवत्व का कोई 'आकार, स्वरूप नहीं होता बल्कि यह विशिष्ट देवत्व की विद्‌यमानता की मानवीय संकल्पना है, जो उसको स्वरूप, आकार और रंग प्रदान करती है' । **राम जानकीजी डीटीज़** (उपरोक्त) वाला मामला इस प्रतिपादना के प्रयोजनार्थ कोई निर्णयज विधि नहीं है कि मात्र श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के लिए पर्याप्त है । जबकि श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास धार्मिक उपासना के स्थान की विद्‌यमानता के प्रयोजनार्थ पर्याप्त होती है, फिर भी विधिक व्यक्तित्व समर्पण विलेख के आधार पर किया गया था ।

170. **सर सेठ हुकूम चंद्र** बनाम **महाराज बहादुर सिंह**[1] वाले मामले में विवाद 25 वर्गमील क्षेत्रफल वाली एक पहाड़ी, जिसके साथ धार्मिक महत्व जुड़ा हुआ है, की उपासना के अधिकारों के संबंध में जैन समुदाय के दो संप्रदायों से संबंधित था । दिगम्बर जैन संप्रदाय के अनुसार पहाड़ी की पवित्र प्रकृति के संबंध में यह मान्यता थी कि वे जैसे ही इस पहाड़ी पर अपने कदम रखेंगे, वे तुरंत प्रकृति के विरुद्ध किए गए अपराधों, जिनमें थूकना भी सम्मिलित है, से मुक्त हो जाएंगे । यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदाय के जैनियों द्वारा भी यही मताभिव्यक्ति की गई थी, फिर भी दिगम्बर जैनियों का यह पक्षकथन था कि कोई भी कार्रवाई जो उनकी उपासना के असंगत है, जैसेकि पहाड़ी पर मनुष्यों का नियमित और निरंतर नियोजन, के कारण पहाड़ी का अपवित्रीकरण होता है ।

171. वर्ष 1918 में श्वेताम्बर जैनियों ने पालगंज के राजा से पहाड़ी के सांपत्तिक अधिकार क्रय कर लिए । तत्पश्चात्, पहाड़ी पर संतरी और रात्रि प्रहरी नियुक्त कर दिए गए, जिनके और अन्य पुजारियों के लिए रिहायशी मकानों का निर्माण प्रस्तावित था । इसके विरुद्ध दिगम्बर जैनियों ने दलील दी कि पहाड़ी के नीचे प्रस्तावित द्वार का निर्माण पहाड़ी पर उनके प्रवेश को बाधित किए जाने के लिए आशयित था । दिगम्बर जैनियों द्वारा यह दलील देते हुए वाद संस्थित कराया गया कि पहाड़ी दोनों ही संप्रदायों के लिए उपासना का केंद्र थी और इस पहाड़ी के ऊपर उसकी विशेष स्थिति के कारण निर्माण कार्य नहीं किया जा सकता । विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वादी दिगम्बर जैन संप्रदाय के लोगों को यह सुनिश्चित करने का अधिकार है कि पहाड़ी, जो देवताओं की विन्यासित संपत्ति है, को उनकी आस्था के अनुसार शुद्ध और निर्मल स्थिति में रखा जाना चाहिए । उच्च न्यायालय ने इस निर्णय को पलट दिया और अभिनिर्धारित किया कि यह पहाड़ी ऐसी संपत्ति नहीं है जिसकी खोज की गई हो बल्कि यह संपत्ति पालगंज की राजा की संपत्ति है, जिनका स्वत्व अंतरित किया गया था । उच्च न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया गया कि द्वार का प्रस्तावित

---

[1] (1933) 38 एल. डब्ल्यू. 306 (प्रिवी कौंसिल).

निर्माण दिगम्बर जैनियों के उपासना के अधिकार को बाधित करने वाला निर्माण नहीं है ।

172. इस निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई अपील में प्रीवी कौंसिल ने इस निष्कर्ष पर पहुंचने के प्रयोजनार्थ अभिलेख पर उपलब्ध साक्षियों का परीक्षण किया कि विधिक स्वत्व पालगंज के राजा में विधिमान्यत: निहित था । राजा और श्वेताम्बर जैनियों के मध्य पूर्ववर्ती मुकदमेबाजी के परिणामस्वरूप राजा के पक्ष में स्वत्व का निष्कर्ष निकाला गया था । वर्ष 1903 में दिगम्बर जैनियों द्वारा फाइल किया गया वाद में भी दिगम्बर जैनियों के उपासना के अधिकार को बनाए रखते हुए राजा का स्वत्व स्वीकार किया गया था । तत्पश्चात् प्रीवी कौंसिल ने उन क्रियाकलापों की श्रृंखला का परीक्षण किया, जिनको उपासना के अधिकार में कोई व्यवधान उत्पन्न किए बिना पहाड़ी पर किया जा रहा था और अभिनिर्धारित किया कि वादपत्र में यह साबित नहीं किया गया है कि कोई भी ऐसा कार्य जिसके बाबत शिकायत की गई हो, तीन देव स्थानों में चरण स्थापित किए जाने को छोड़कर उपासना के अधिकार को सीमित करते हैं ।

173. विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि पहाड़ी देवताओं की ऐसी संपत्ति थी जिसकी नवीनतम रूप से खोज पूर्णत: पवित्रता के आधार पर की गई थी । इन मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेते हुए प्रीवी कौंसिल ने अभिनिर्धारित किया :–

> "विद्वान् अधीनस्थ न्यायालय ने निष्कर्ष निकालते हुए इस तथ्य का अवलंब लिया है कि संपूर्ण पहाड़ी दोनों संप्रदायों के पवित्रता और विश्वास के आधार पर जैन देवताओं की संपत्ति है जिसकी खोज नवीनतम रूप से की गई है । जैसीकि मताभिव्यक्ति न्यायमूर्ति रोज द्वारा की गई, <u>वह साक्ष्य नि:संदेह रूप से किसी संदेह के परे इस बात को साबित करता है कि जैन समुदाय की आस्था के आधार पर इस पहाडी से किसी न किसी रूप में आध्यात्मिकता जुडी हुई है किंतु यह आस्था का मामला है और</u>

<u>मात्र आस्था के आधार पर पहाडी का भौतिक स्वामित्व विनिर्धारित नहीं किया जा सकता</u> ।"

(अधोरेखांकन पर बल दिया गया है ।)

प्रिवी कौंसिल ने दिगम्बर जैनियों द्वारा प्रस्तुत किए गए मालिकाना दावे, जो इस संप्रदाय की आस्था और विश्वास पर आधारित था, में दी गई इस दलील को स्पष्टतया अस्वीकृत कर दिया ।

174. वर्तमान मामले में 'स्थान श्रीराम जन्मभूमि' को विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रश्नगत भूमि पर समस्त परस्पर विरोधी सांपत्तिक दावों के परिशमन के प्रयोजनार्थ प्रदान की है । (भूमि को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किए जाने के परिणामस्वरूप) 'आत्यंतिक स्वत्व' प्रदान किया जाना वास्तव में स्वत्व की संकल्पना को अर्थहीन बना देगा । इसके अतिरिक्त, परस्पर विरोधी दावों का परिशमन स्थिरीकृत विधिक सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए उद्भूत नहीं होगा बल्कि शुद्धत: श्रद्धालुओं की आस्था और विश्वास के आधार पर उद्भूत होगा । इसका उत्तर विधि में नहीं खोजा जा सकता । न्यायालयों द्वारा विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना एक अविष्कार है, जो आवश्यकता और सुविधा को दृष्टि में रखते हुए प्रकाश में आया है । विधिक हिंदू प्रतिमाओं को विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाना इस आधारभूत प्रश्न के परिणामस्वरूप उद्भूत हुआ कि संपत्ति किसको समर्पित की गई थी और वह समर्पित भूमि किसमें निहित हुई । दो स्पष्ट हितों जिनको विधि द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है, श्रद्धालुओं के हित हैं और संपत्तियों के हित हैं, जिनकी रक्षा कुप्रबंधन से की जानी है । वर्तमान मामले में समर्पण का कोई भी कार्य विद्यमान नहीं है और इसलिए यह प्रश्न कि यह संपत्ति किसको समर्पित की गई थी, उद्भूत नहीं होता और परिणामस्वरूप समर्पण के पीछे स्वयमेव पवित्र प्रयोजन को विधिक व्यक्ति के रूप में मान्यता प्रदान किए जाने की आवश्यकता भी उद्भूत नहीं होती ।

शेष आगामी अंक में..............

संसद् के अधिनियम

भरणपोषण आदेश प्रवर्तन अधिनियम, 1921

(1921 का अधिनियम संख्यांक 18)[1]

[5 अक्तूबर, 1921]

[2][[3]* [4][व्यतिकारी राज्यक्षेत्रों] [5]*** में किए गए भरणपोषण आदेशों के [6][भारत] में और भारत में किए गए ऐसे आदेशों के व्यतिकारी राज्यक्षेत्रों में प्रवर्तन को सुकर बनाने के लिए**

अधिनियम

यत: यह समीचीन है कि [2][[3]*** [4][व्यतिकारी राज्यक्षेत्रों] [5]*** में किए गए भरणपोषण आदेशों के [6][भारत] में और भारत में किए गए ऐसे आदेशों के व्यतिकारी राज्यक्षेत्रों में प्रवर्तन को सुकर बनाया जाए ;

अत: एतद्द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित किया जाता है :–

1. **संक्षिप्त नाम और विस्तार** – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम भरणपोषण आदेश प्रवर्तन अधिनियम, 1921 है ।

---

[1] यह अधिनियम, 1963 के विनियम सं. 6 की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा (1-7-1965 से) दादरा और नागर हवेली को विस्तारित और प्रवृत्त हुआ । यह अधिनियम, 1968 के अधिनियम सं. 26 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र पर लागू होने के लिए विस्तारित किया गया ।

[2] विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा "के अन्य भागों में" के स्थान पर प्रतिस्थपित ।

[3] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "भाग ख राज्यों में या" शब्दों का लोप किया गया ।

[4] 1952 के अधिनियम सं. 47 की धारा 2 द्वारा "हिज मैजेस्टीज डोमिनियन एण्ड प्रोटेक्टारेट्स" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[5] विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा "सम्मिलित होने वाले राज्य अन्य भारतीय राज्यों" शब्दों का लोप किया गया ।

[6] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "भाग क राज्यों और भाग ग राज्यों" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[1][(2) इसका विस्तार [2][जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय] सम्पूर्ण भारत पर है ।]

2. **परिभाषाएं** – इस अधिनियम में जब तक कि कोई बात विषय या संदर्भ में विरुद्ध न हो :–

"संक्षिप्त अधिकारिता का न्यायालय" से मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट या जिला मजिस्ट्रेट का न्यायालय अभिप्रेत है ;

"आश्रित" से ऐसे व्यक्ति अभिप्रेत हैं, जिनको वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध भरणपोषण आदेश दिया गया है ; उस [3][व्यतिकारी राज्यक्षेत्र] में जिसमें भरणपोषण आदेश दिया गया है प्रवृत्त विधि के अनुसार भरणपोषण करने के लिए दायी है ;

[4]["भारत" से जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय भारत का राज्यक्षेत्र अभिप्रेत है ;]

"भरणपोषण आदेश" से किसी न्यायालय द्वारा सिविल या दांडिक अधिकारिता के प्रयोग में उस व्यक्ति की जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है पत्नी या अन्य आश्रितों के भरणपोषण के लिए धनराशियों के कालिक संदाय के लिए, सम्बद्ध किए जाने के आदेश से भिन्न, कोई डिक्री या आदेश अभिप्रेत है ;

"विहित" से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

"उचित प्राधिकारी" से किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र की विधि के अधीन या उसके द्वारा उन दस्तावेजों को जिनको यह अधिनियम लागू होता है, प्राप्त करने और पारेषित करने के लिए नियुक्त

---

[1] विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा पूर्ववर्ती उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "भाग ख राज्यों के सिवाय" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1952 के अधिनियम सं. 47 की धारा 3 द्वारा "हिज मैजेस्टीज डोमिनियन्स के भाग" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा अंत:स्थापित ।

प्राधिकारी अभिप्रेत है ; और

[1][“व्यतिकारी राज्यक्षेत्र” से भारत से बाहर ऐसा देश या राज्यक्षेत्र अभिप्रेत है जिसकी बाबत यह अधिनियम धारा 3 के अधीन घोषणा के आधार पर तत्समय लागू होता है ।]

[2]* * * * *

[3][3. **व्यतिकारी व्यवस्था की घोषणा** – यदि केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो जाता है कि भारत के बाहर किसी देश या राज्यक्षेत्र में, उस देश या राज्यक्षेत्र में भारत के न्यायालयों द्वारा दिए गए भरणपोषण आदेशों के प्रवर्तन के लिए विधिक उपबंध विद्यमान हैं तो, केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, यह घोषणा कर सकती है कि यह अधिनियम उस देश या राज्यक्षेत्र की बाबत लागू होता है और तब वह तद्नुसार लागू होगा ।]

4. **व्यतिकारी राज्यक्षेत्रों में दिए गए भरणपोषण आदेशों का भारत में रजिस्ट्रीकरण** – (1) जहां कोई भरणपोषण आदेश, चाहे इस अधिनियम को पारित होने के पहले या पश्चात्, किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति के विरुद्ध दिया गया है, और उस राज्यक्षेत्र के उचित प्राधिकारी द्वारा उस आदेश की प्रमाणित प्रति केन्द्रीय सरकार को पारेषित की गई है वहां, केन्द्रीय सरकार उस आदेश की एक प्रति [4][भारत] में किसी न्यायालय के विहित अधिकारी को रजिस्ट्रीकरण के लिए भेजेगी, और, उसकी प्राप्ति पर,

---

[1] 1952 के अधिनियम सं. 47 की धारा 3 द्वारा पूर्ववर्ती परिभाषा के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा अंत:स्थापित “राज्यों” की परिभाषा का 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा लोप किया गया ।

[3] 1952 के अधिनियम सं. 47 की धारा 4 द्वारा पूर्ववर्ती धारा 3 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा “राज्यों” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

आदेश विहित रीति में रजिस्टर किया जाएगा ।

(2) यदि वह न्यायालय जिसके द्वारा आदेश दिया गया था, केन्द्रीय सरकार की राय में, वरिष्ठ अधिकारिता का न्यायालय है तो वह न्यायालय जिसमें ऐसा आदेश यथापूर्वोक्त इस प्रकार रजिस्ट्रीकृत किया जाना है उच्च न्यायालय होगा, और यदि उसकी राय में वह न्यायालय वरिष्ठ अधिकारिता का न्यायालय नहीं था, तो संक्षिप्त अधिकारिता का न्यायालय होगा ।

5. **भारत में दिए गए भरणपोषण आदेशों का पारेषण** – जहां [1][भारत] में न्यायालय ने चाहे इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात् किसी व्यक्ति के विरुद्ध भरणपोषण आदेश दिया है, और उस न्यायालय में यह साबित किया गया है कि वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र का निवासी है, तो न्यायालय उस राज्यक्षेत्र के उचित प्राधिकारी को पारेषण के लिए केन्द्रीय सरकार को आदेश की एक प्रमाणित प्रति भेजेगा ।

6. **संक्षिप्त न्यायालयों की व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में निवासी व्यक्तियों के विरुद्ध अनन्तिम भरणपोषण आदेश देने की शक्ति** – (1) जहां [1][भारत] में संक्षिप्त अधिकारिता रखने वाले किसी न्यायालय को किसी व्यक्ति के लिए भरणपोषण आदेश के लिए आवेदन किया जाता है, और यह साबित किया जाता है कि वह व्यक्ति किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में निवासी है, वहां उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में यदि न्यायालय का साक्ष्य को सुनने के पश्चात् आवेदन के न्यायानुमत होने के बारे में समाधान हो जाता है तो, वह ऐसा आदेश दे सकता है जो वह तब दे सकता जब ऐसा व्यक्ति जानबूझकर न्यायालय में उपस्थित होने की उपेक्षा करता ; किन्तु ऐसी दशा में आदेश अनन्तिम ही होगा और तब तक प्रभावी नहीं होगा जब तक ऐसे राज्यक्षेत्र में सक्षम न्यायालय

---

[1] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "राज्यों" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

द्‌वारा उसकी पुष्टि न की जाए ।

(2) प्रत्येक साक्षी का जिसका ऐसे आवेदन पर परीक्षण किया जाता है साक्ष्य लेखबद्ध किया जाएगा और ऐसा अभिसाक्ष्य उसको पढ़कर सुनाया जाएगा और उसके द्‌वारा हस्ताक्षरित होगा ।

(3) जहां ऐसा आदेश दिया जाता है वहां, न्यायालय केन्द्रीय सरकार को उस व्यतिकारी राज्यक्षेत्र के, जिसमें वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है निवास करता है ऐसा अधिकथित है, उचित प्राधिकारी को पारेषण के लिए इस प्रकार लिए गए अभिसाक्ष्य और आदेश की प्रमाणित प्रति उन आधारों के कथन के साथ जिन पर, यदि वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है यदि उस पर समन सम्यक्त: तामील किया जाता और वह सुनवाई पर उपसंजात होता तो जिन आधारों पर आदेशों के दिए जाने का विरोध होता है और ऐसी जानकारी के साथ जो न्यायालय के पास उस व्यक्ति की पहचान और उसका ठौर ठिकाना अभिनिश्चित करने को सुकर बनाने के लिए हो, भेजेगा ।

(4) जहां ऐसा कोई अनन्तिम आदेश किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय के समक्ष पुष्टि के लिए आया है और वह आदेश उस न्यायालय द्‌वारा संक्षिप्त अधिकारिता के उस न्यायालय को जिसने आदेश दिया था अतिरिक्त साक्ष्य लेने के प्रयोजन के लिए प्रेषित किया गया है, वहां, वह न्यायालय, विहित सूचना देने के पश्चात् मूल आवेदन के समर्थन में जैसे साक्ष्य लिया जाता है उसी रीति में और वैसी ही शर्तों के अधीन साक्ष्य लेने की कार्यवाही करेगा ।

(5) यदि ऐसा साक्ष्य सुनने वाले न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि आदेश नहीं किया जाना था तो न्यायालय उस आदेश को विखंडित कर सकता है किन्तु किसी अन्य दशा में अभिसाक्ष्य केन्द्रीय सरकार को भेजा जाएगा और मूल अभिसाक्ष्य के समान रीति में निपटाया जाएगा ।

(6) इस धारा के अधीन दिए गए किसी आदेश की पुष्टि संक्षिप्त अधिकारिता के न्यायालयों की उस आदेश में फेरफार करने या उसे

विखंडित करने की शक्ति को प्रभावित नहीं करेगी :

परन्तु फेरफार या विखंडन का आदेश करने के पश्चात्, न्यायालय उस व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में जिसमें मूल आदेश की पुष्टि की गई थी या जिसको वह पुष्टि के लिए भेजा गया था, उचित प्राधिकारी को पारेषण के लिए उसकी एक प्रमाणित प्रति केन्द्रीय सरकार को भेजेगा, और मूल आदेश में फेरफार करने वाले आदेश की दशा में, आदेश प्रभावशील नहीं होगा जब तक कि मूल आदेश के समान रीति में उसकी पुष्टि न हो जाए ।

7. **संक्षिप्त अधिकारिता के न्यायालय की भारत से बाहर किए गए भरणपोषण आदेश की पुष्टि करने की शक्ति** – (1) जहां किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में न्यायालय द्वारा भरणपोषण का आदेश किया गया है और आदेश अनन्तिम ही है, और [1][भारत] में संक्षिप्त अधिकारिता के न्यायालय द्वारा पुष्टि किए जाने तक उसका कोई प्रभाव नहीं है, और साक्षियों के अभिसाक्ष्य और जिन आधारों पर उस आदेश का विरोध किया जा सकता था उनके कथन के साथ आदेश की एक प्रमाणित प्रति केन्द्रीय सरकार को पारेषित की गई है, और केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत होता है कि वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है [1][भारत] में निवासी है तो, केन्द्रीय सरकार इस अध्यपेक्षा के साथ कि उस व्यक्ति से यह मांग करते हुए एक समन जारी किया जाए कि वह यह हेतुक दर्शाए कि क्यों उस आदेश की पुष्टि न की जाए, संक्षिप्त अधिकारिता के न्यायालय के विहित अधिकारी को उक्त दस्तावेज भेज सकती है, और ऐसे दस्तावेजों और अध्यपेक्षा की प्राप्ति पर, न्यायालय समन जारी करेगा और उसे ऐसे व्यक्ति पर तामील करेगा ।

(2) उपधारा (1) के अधीन जारी किया गया समन सभी प्रयोजनों

---

[1] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "राज्यों" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

के लिए न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक दांडिक अधिकारिता के प्रयोग में जारी किया गया समन समझा जाएगा ।

(3) वह व्यक्ति जिसे समन जारी किया गया था सुनवाई में अपनी प्रतिरक्षा में ऐसी कोई बात रख सकता है जो वह आरंभिक कार्यवाही में रख सकता था यदि वह उसका पक्षकार होता, किन्तु इससे भिन्न कोई प्रतिवाद नहीं होगा, और अनन्तिम आदेश देने वाले न्यायालय का उन आधारों का कथन करते हुए, जिन पर यदि वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है कार्यवाहियों का पक्षकार होता तो जिन पर आदेश का विरोध कर सकता था, दिया गया प्रमाणपत्र इस बात का निश्चायक साक्ष्य होगा कि वे आधार ही ऐसे आधार हैं जिन पर आक्षेप किया जा सकता है ।

(4) यदि वह व्यक्ति जिस पर समन तामील किया गया है सुनवाई में उपसंजात नहीं होता है, या उपसंजात होता है किन्तु न्यायालय का यह समाधान करने में असफल रहता है कि आदेश की पुष्टि नहीं की जानी चाहिए तो, न्यायालय, भारत में तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा उसकी शक्ति पर आधारित वित्तीय सीमा के होते हुए भी, बिना उपान्तरों के या ऐसे उपान्तरों सहित जो न्यायालय साक्ष्य सुनने के बाद उचित समझे आदेश की पुष्टि कर सकता है :

परन्तु इस धारा के अधीन कोई राशि भरणपोषण के रूप में अनन्तिम आदेश की प्रस्थापित दर से अधिक दर पर अधिनिर्णीत नहीं की जाएगी, या इस रूप में वसूल नहीं की जा सकेगी ।

(5) यदि वह व्यक्ति जिसको समन जारी किया गया था सुनवाई में उपस्थित होता है और न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि प्रतिवाद करने के प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि अतिरिक्त साक्ष्य लेने के लिए मामले को उस न्यायालय को प्रेषित किया जाए जिसने अनन्तिम आदेश दिया था, तो न्यायालय उस प्रयोजन के लिए व्यतिकारी राज्यक्षेत्र के उचित अधिकारी के माध्यम से उस न्यायालय को पारेषण के लिए केन्द्रीय सरकार को अभिलेख की प्रमाणित प्रति भेज सकता है

और कार्यवाहियों को स्थगित कर सकता है ।

(6) जहां इस धारा के अधीन किसी अनन्तिम आदेश की पुष्टि की गई है वहां, उसमें उसी रीति में फेरफार या विखंडन किया जा सकता है मानो वह मूलत: पुष्टि करने वाले न्यायालय द्वारा दिया गया है, और जहां विखण्डन या फेरफार करने के लिए आवेदन पर न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि मामले को अतिरिक्त साक्ष्य लेने के प्रयोजन के लिए उस न्यायालय को प्रेषित करना आवश्यक है जिसने अनन्तिम आदेश दिया था वहां, न्यायालय उस प्रयोजन के लिए व्यतिकारी राज्यक्षेत्र के उचित अधिकारी के माध्यम से उस न्यायालय को पारेषण के लिए केन्द्रीय सरकार को अभिलेख की प्रमाणित प्रति भेज सकता है, और कार्यवाहियों को स्थगित कर सकता है ।

8. **भरणपोषण आदेशों का प्रवर्तन** – (1) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन, जहां इस अधिनियम के अधीन कोई आदेश किसी उच्च न्यायालय में रजिस्ट्रीकृत किया गया है वहां, आदेश का ऐसे रजिस्ट्रीकरण की तारीख से वही बल और प्रभाव होगा और उस पर ऐसी सभी कार्यवाहियां की जा सकेंगी मानो वह उच्च न्यायालय से उसकी सिविल अधिकारिता के प्रयोग में, या उसी न्यायालय के अधीनस्थ ऐसे सिविल न्यायालय में जो इस निमित्त उच्च न्यायालय द्वारा नामनिर्दिष्ट किया जाए, मूलत: अभिप्राप्त आदेश है, और उस न्यायालय को तद्नुसार आदेश को प्रवृत्त कराने की शक्ति होगी ।

(2) संक्षिप्त अधिकारिता का कोई न्यायालय जिसमें इस अधिनियम के अधीन आदेश रजिस्ट्रीकृत किया गया है या जिसके द्वारा कोई आदेश इस अधिनियम के अधीन पुष्ट किया गया है, और ऐसे न्यायालय के अधिकारियों को, ऐसी शक्ति होगी और वे ऐसे कर्तव्यों का पालन करेंगे जो आदेश के प्रवर्तन के प्रयोजन के लिए, विहित किए जाएं ।

9. **भरणपोषण के रूप में अधिनिर्णीत राशियों के पारेषण के लिए प्रभार और अन्य खर्चों और प्रभारों का संदाय** – इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार भरणपोषण के आदेश को रजिस्टर करने या उसकी

पुष्टि करने में न्यायालय, यह निदेश देगा कि उस न्यायालय को, जिससे, यथास्थिति, आदेश प्राप्त हुआ है या जिसमें अनन्तिम आदेश दिया गया है, भरणपोषण के रूप में अधिनिर्णीत राशि के पारेषण के प्रभारों का वहन वह व्यक्ति करेगा जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है या आदेश की पुष्टि की गई है, और उससे भरणपोषण के रूप में अधिनिर्णीत राशि के अतिरिक्त वसूल किया जाएगा और इसके अतिरिक्त, और उसी रीति में ऐसे अन्य खर्चे और प्रभार वसूल किए जाएंगे जो न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत या उद्गृहीत किए जाएं ।

10. **न्यायालय के अधिकारियों द्वारा हस्ताक्षरित दस्तावेजों का सबूत** – इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए, ऐसे दस्तावेजों के बारे में जिसका [1][भारत] से बाहर किसी न्यायालय के न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित होना तात्पर्यित है, जब तक प्रतिकूल साबित न किया जाए, जिस व्यक्ति के हस्ताक्षर किए गए प्रतीत होते हैं उसके न्यायिक या शासकीय हैसियत के हस्ताक्षर के सबूत के बिना यह समझा जाएगा कि वह इस प्रकार हस्ताक्षरित है, और किसी न्यायालय के अधिकारी के बारे में जिसके द्वारा दस्तावेज हस्ताक्षरित है जब तक प्रतिकूल साबित न किया जाए, यह समझा जाएगा कि वह उस दस्तावेज को हस्ताक्षरित करने के लिए न्यायालय का उचित अधिकारी था ।

11. **अभिसाक्ष्य का साक्ष्य होना** – किसी व्यतिकारी राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय में लिए गए अभिसाक्ष्य, इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए, इस अधिनियम के अधीन संक्षिप्त अधिकारिता के न्यायालयों के समक्ष कार्यवाहियों से साक्ष्य में ग्रहण किए जाएंगे ।

12. **नियम बनाने की शक्ति** – [2][(1)] केन्द्रीय सरकार इस अधिनियम के प्रयोजनों को प्रभावशील करने के प्रयोजन के लिए

---

[1] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "राज्यों" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15.3.1984 से) धारा 12 को उपधारा (1) के रूप में पुन:संख्यांकित किया गया ।

[1][राजपत्र में अधिसूचना द्वारा नियम[2] बना सकती है] और विशिष्टतया इस अधिनियम के अधीन की गई किसी बात के लिए खर्चे या प्रभार के उद्ग्रहण के लिए और उन सभी विषयों के लिए जो विहित किए जाने के लिए निर्दिष्ट या अनुज्ञात हैं, नियम बना सकती है ।

[3][(2) इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।]

---

[1] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15.3.1984 से) "नियम बना सकेगी" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] ऐसे नियमों के लिए देखिए भारत का राजपत्र, 1923, भाग 1, पृष्ठ 1263.

[3] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15.3.1984 से) अंतः स्थापित ।

विधि साहित्य प्रकाशन द्‌वारा प्रकाशित और विक्रयार्थ उपलब्ध पाठ्‌य पुस्तकों की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम एवं प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पृष्ठ सं.	पुस्तक की मूल मुद्रित कीमत (रुपयों में)	विशेष छूट के पश्चात् पुस्तक की कीमत (रुपयों में)
1.	विधि शास्त्र – डा. शिवदत्त शर्मा – 2004	501	580	145
2.	निर्णय लेखन – न्या. भगवती प्रसाद बेरी – 2019	190	175	–
3.	भारत का सांविधानिक इतिहास – (103वां संविधान संशोधन तक) – श्री चन्द्रशेखर मिश्र	340	325	–
4.	भारतीय संविधान के प्रमुख तत्व – डा. प्रद्‌युम्न कुमार त्रिपाठी	906	750	–

अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. निर्वाचन विधि निर्देशिका (भाग-1 तथा भाग-2)	नवीनतम संस्करण, 2024	कीमत रु. 2,500
2. भारत का संविधान (पाकेट एडीशन)	2024	कीमत रु. 325

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

Website : www.lawmin.nic.in
Email : am.vsp-molj@gov.in

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं - **उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका** और **उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका** का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित महत्वपूर्ण निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः सिविल और दांडिक के चयनित महत्वपूर्ण निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत क्रमशः ₹ 2,100/-, ₹ 1,300/- और ₹ 1,300/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें । साथ ही यह भी अवगत कराया जाता है कि केन्द्रीय अधिनियमों, विधि शब्दावली, विधि पत्रिकाओं और अन्य विधि प्रकाशनों को ऑन लाइन **https://bharatkosh.gov.in/product/product** पर प्राप्त किया जा सकता है ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

विक्रेता : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in